भाषा और भाषिकी

डॉ० देवीशंकर द्विवेदी
भाषाविज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय
सागर (म० प्र०)।

लक्ष्मीनारायन अग्रवाल
पुस्तक प्रकाशक : आगरा

प्रकाशक :
लक्ष्मीनारायन अग्रवाल
आगरा।

प्रथम संस्करण, १९६४
मूल्य पाँच रुपये

मुद्रक :
आगरा फाइन आर्ट प्रेस,
आगरा।

स्व० पं० विश्वम्भरदयालु त्रिपाठी

की

पुण्य-स्मृति

में

प्राक्कथन

यह भारतवर्ष का सौभाग्य है कि हमारे विश्वविद्यालयों में भाषिकी के अध्ययन-अध्यापन की सुविधा क्रमशः बढ़ती जा रही है। हिन्दी और संस्कृत आदि की एम० ए० परीक्षा में तो भाषिकी के एक प्रश्नपत्र का प्रावधान है ही, बी० ए० तथा एम० ए० स्तर पर एक स्वतंत्र विषय के रूप में भी भाषिकी का अध्ययन-अध्यापन होने लगा है। भाषिकी के महत्व और उपयोगिता का अनुभव सुशिक्षित समाज को क्रमशः होने लगा है, यह सन्तोष की बात है; किन्तु ऐसी स्थिति में प्रशिक्षित भाषिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे सन्तुलित सामग्री प्रकाश में लाएँ। दुर्भाग्यवश अभी तक ऐसा उद्योग नहीं हुआ है। हिन्दी में इस विषय पर जो पुस्तकें उपलब्ध हैं, उनमें से अधिकांश में या तो उस समय की सामग्री दी गई है, जब भाषिकी अपनी शैशवावस्था में थी या पुरानी और नई सामग्री की अखाद्य खिचड़ी पकाई गई है अथवा पुरानी या नई कैसी भी सामग्री बिना सोचे-समझे इस प्रकार ठूँस-ठूँसकर भरी गई है कि तनिक भी गहरी दृष्टि से देखने पर सामग्री की अव्यवस्था का और दृष्टि-कोण के छिछलेपन का रूप भरपूर उभरकर सामने आ जाता है। मौलिकता के नाम पर ऐसी-ऐसी बचकानी बातें कही जाती हैं जो न दयनीय लगती हैं न हास्यास्पद। परिणाम यह होता है कि एम० ए० में भाषिकी का अध्ययन करके निकलने वाले हिन्दी-संस्कृत आदि के विद्यार्थियों की स्थिति प्रायः बड़ी दुःखद होती है।

प्रस्तुत पुस्तक लिखने के मूल में भावना यह थी कि विद्याथियों को ऐसी सामग्री दी जाय जिससे वे रटने के बजाय विषय को समझना भी आरम्भ करें; इसीलिए इसे एक पाठ्यपुस्तक का-सा रूप देने की चेष्टा की गई है, परीक्षाओं के नोट्स का रूप नहीं। एम० ए० हिन्दी तथा संस्कृत आदि के विद्यार्थी यदि व्यवस्थित ढंग से इस पुस्तक का अध्ययन करेंगे तो आगे भाषिकी के क्षेत्र में कार्य करने के लिए उनकी नींव मजबूत होगी। बी० ए० के जो विद्यार्थी मन लगाकर इसका मनन करेंगे, उन्हें भाषिकी में एम० ए० करते समय अथवा आगे चलकर भाषिकी के क्षेत्र में चिन्तन या शोध करने में सहूलियत होगी। इसे ठीक से पढ़ने के बाद विषय को यथार्थ रूप में समझने में सरलता होगी और उच्च श्रेणी के भाषिक साहित्य को समझने के लिए तैयारी भी हो जायगी।

मेरी इच्छा थी कि मैं इसे अत्यंत सरल, सुबोध और सरस बनाऊँ। मेरी इस इच्छा की छाप पुस्तक के अनेक पृष्ठों पर मिलेगी; किन्तु मुझे लगता है कि कुल मिलाकर मैं अपनी उपर्युक्त इच्छा की पूर्ति नहीं कर पाया। अनेक स्थलों पर

साधारण विद्यार्थी को कुछ मानसिक व्यायाम करना पड़ सकता है। यह मेरी विवशता है और मुझे इसका कोई खेद नहीं है, विशेषतः इसलिए कि पाठ्यपुस्तक के रूप में प्रयुक्त होने पर सुयोग्य शिक्षक इसमें सरलता का समावेश कर देंगे- और आवश्यकतानुसार सामग्री की मात्रा भी बढ़ा सकेंगे। शैली का हलकापन वहीं तक ठीक है, जहाँ तक वह विषय की गहराई को अस्वाभाविक ढंग से छिपाता नहीं है। मुझे आशा है कि ऐसी कुछ कमियों के बावजूद यह पुस्तक अपने उद्देश्य में सफल होगी। हिन्दी की अधिकांश पुस्तकों में जो त्रुटियाँ पाई जाती हैं, आशा है, सुधी भाषिकों को वे इस पुस्तक में अपेक्षाकृत कम मात्रा में प्राप्त होंगी।

पुस्तक के उद्देश्य को देखते हुए इसमें कितनी सामग्री दी जाय, यह एक समस्या रही है। सामग्री में प्रायः सर्वत्र जटिलताओं से बचने की चेष्टा की गई है, यद्यपि कुछ स्थलों पर ऐसा नहीं किया जा सका है अथवा एक सीमा तक ही किया जा सका है। उदाहरणार्थ, हिन्दी स्वरों में मात्रा-भेद की चर्चा की गई है, गुण-भेद की स्थिति भली प्रकार नहीं स्पष्ट की गई। पुस्तक में अपनी बात कहने का दृष्टिकोण रहा है, किसी की बात काटने का नहीं। प्रचलित बातों से कहीं-कहीं भिन्नता दिखाई दे तो यह स्वाभाविक ही होगा।

यहाँ दो शब्द पारिभाषिक शब्दों के संबंध में कह देना अनुचित न होगा। प्रचलित शब्द मुझे जहाँ भी असन्तोषजनक लगे हैं, उनमें परिवर्तन करने में मैंने कोई संकोच नहीं किया है। ध्वनिग्राम, ध्वनिश्रेणी आदि शब्द एक तो बड़े हैं, दूसरे उन्हें स्वीकार कर लेने पर स्वनिम को 'ध्वनि-समूह' के रूप में मानने की पुरानी विचार-धारा को स्वीकार करने के लिए हम विवश हो जाते हैं। 'स्वनिम' शब्द में ऐसा कोई पूर्वाग्रह नहीं है। इसे कोई चाहे तो 'ध्वनि-समूह' के रूप में भी स्वीकार कर सकता है और ध्वनियों के भावानयन के रूप की गुंजाइश तो इससे हो ही जाती है। यह शब्द डॉ० विश्वनाथ प्रसाद का है और मैंने इसे पूरे चाव तथा आस्था के साथ अपनाया है। इसका /-इम/ प्रत्यय देखकर चौंकने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी के रक्तिम, स्वर्णिम आदि शब्दों में वह विद्यमान है। इन शब्दों में 'आभास' अथवा 'भावानयन' का जो भाव आ जाता है, वही मुझे 'स्वनिम' में अपेक्षित है। जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं नई धातुओं और नये प्रत्ययों को गढ़ने में भी संकोच नहीं करता यदि अँगरेजी के समानार्थी शब्द से कुछ ध्वनि-साम्य हो और इन नये रूपों की प्रकृति संस्कृत अथवा हिन्दी की ही हो। इसके कई प्रमाण इस पुस्तक में मिलेंगे। उपर्युक्त मानदण्डों को सामने रखकर मैंने बहुत से शब्द गढ़े हैं; अनेक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद से लिये हैं। लीक से हटकर चलने में झिझकने वाले लोगों को जो शब्द खटकेंगे, उनमें से अधिकांश मेरे होंगे। संबंधित शब्द-तालिकाओं के निर्माण में ये शब्द बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। संशोधन भी मैंने किये हैं। 'वॉवेल-ट्रैंगिल' का अनुवाद मैंने 'स्वर-चतुष्कोण' किया है,

‘स्वर-त्रिकोण’ नहीं। ‘कंठ्य’ को मैंने ‘उत्कंठ्य’ कर दिया है। ‘समीपी संघटक’ में मैंने ‘समीपी’ के स्थान पर ‘आसन्न’ करना उचित नहीं समझा, क्योंकि ये संघटक समीपी अवश्य होते हैं, आसन्न नहीं भी होते और इस विषय का अभिप्राय ही ‘समीपता’ का विवेचन है।

गुरुवर डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने भाषिकी के क्षेत्र में कदम रखना सिखाया; इस पुस्तक को उनका आशीर्वाद मिलना ही चाहिए था। निरन्तर जिसे पाया है, उनके उस निश्छल स्नेह के लिए, उनके निर्मल देवोपम व्यक्तित्व के प्रति भक्ति ही प्रकट कर सकता हूँ, कृतज्ञता व्यक्त करने की औपचारिकता नहीं निभाना चाहता।

—लेखक



भूमिका

इस पुस्तक को देख कर मुझे गर्व और प्रसन्नता दोनों का ही अनुभव हुआ है—गर्व इसलिए कि यह मेरे परम प्रिय शिष्य डॉ० देवीशंकर द्विवेदी की पांडित्यपूर्ण कृति है और प्रसन्नता इसलिए कि यह भाषाविज्ञान के क्षेत्र में एक प्रामाणिक और अपने ढंग की अनोखी देन है। डॉ० देवीशंकर द्विवेदी प्रतिभाशाली विद्यार्थी रहे हैं और भाषाविज्ञान का उन्होंने बहुत ही गहराई के साथ अध्ययन और मनन किया है। इस समय वे सागर विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान के अध्यापक हैं। अध्यापन के क्रम में वहाँ अपने विद्यार्थियों के संपर्क से उनकी आवश्यकता के अनुसार विषय के जिन पक्षों के महत्व का उन्हें बोध हुआ है, उनका इसमें उन्होंने नए ढंग से विवेचन किया है। उनके बिचार में जैसी सुस्पष्टता है, वैसी ही उनकी भाषा में प्रांजलता और विषय के अनुरूप अभिव्यक्ति की शक्ति है।

विज्ञान की और शाखाओं के समान ही भाषाविज्ञान में भी कुछ लिखते समय पारिभाषिक शब्दों की समस्या जटिल रूप में आ खड़ी होती है। इसीलिए मैंने आज से कोई दस-बारह वर्ष पहले पटना विश्वविद्यालय के तत्वावधान में भाषाविज्ञान की एक पारिभाषिक शब्दावली तैयार करके विद्वज्जनों के समकक्ष प्रकाशित की थी। उसी का प्रयोग आगरा विश्वविद्यालय के क० मु० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ में पठन-पाठन तथा लेखन के क्रम में हम बराबर करते रहे हैं। देवीशंकरजी ने भी इस पुस्तक में प्रायः उसी शब्दावली का प्रयोग किया है, परन्तु उसके अतिरिक्त उन्होंने कई अन्य शब्द भी व्यवहृत किए हैं। Linguistics के लिए उन्होंने 'भाषाविज्ञान' के बजाय 'भाषिकी' शब्द को अधिक उपयुक्त समझा है। 'इक्स' (ics) वाले शब्दों के लिए सर्वप्रथम डा० रघुवीर ने इस ढाँचे के अनेक शब्दों का निर्माण किया था, जैसे भौतिकी, दैहिकी इत्यादि। इसी तर्ज पर देवीशंकरजी ने भी Linguistics के लिए 'भाषिकी' शब्द का निर्माण और व्यवहार किया है। संस्कृत में भाषिक शब्द का अर्थ प्रायः निम्न कोटि की भाषा के लिए हुआ है, पर भाषिका शब्द सामान्य अर्थ में भाषा के लिए कभी-कभी व्यवहृत हुआ है और उसके आधार पर भाषिक शब्द का निर्वाह हो जाता है। लेखक ने इस पुस्तक के दसवें अध्याय में अपने द्वारा व्यवहृत हिन्दी-अँगरेजी और अँगरेजी-हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली दे दी है, जिससे पाठकों को पारिभाषिक शब्द तथा उनके अँगरेजी पर्यायों को समझने में कोई कठिनाई नहीं होने पायेगी।

अपने देश में भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन के संवर्धन मे भारतीय भाषाविज्ञान-परिषद् (Linguistic Society of India) द्वारा आयोजित ग्रीष्मकालीन तथा शरत्कालीन सूत्रों का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण है। इधर दस वर्षो के अन्तर्गत आगरा, पूना, सागर और अन्नामलाई—इन कई विश्वविद्यालयों मे भाषाविज्ञान के विधिवत् शिक्षण तथा अनुसंधान का आयोजन हुआ है। इनमें सागर विश्वविद्यालय को यह विशेष गौरव प्राप्त है कि वहाँ स्नातकोत्तर शिक्षा के अतिरिक्त बी० ए० में भी भाषाविज्ञान का अध्यापन एक स्वतंत्र विषय के रूप में होने लगा है। यह भी हर्ष की बात है कि भाषाविज्ञान के अध्यापन के माध्यम के रूप में हिन्दी-क्षेत्र के विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर कक्षाओं में भी हिन्दी का ही प्रयोग हो रहा है। यद्यपि अभी हिन्दी में इस विषय की प्रामाणिक पुस्तकें इनी-गिनी हैं तो भी इस दिशा में दृढ़ता और सफलता के साथ कदम बढ़ाए गये है। स्नातकोत्तर कक्षा के एक स्वतंत्र विषय के रूप में भाषाविज्ञान का हिन्दी माध्यम के द्वारा अध्यापन हमने आगरा विश्वविद्यालय के हिन्दी विद्यापीठ में ही प्रारम्भ किया था। यों तो हिन्दी के अंतर्गत केवल एक प्रश्न-पत्र के रूप में हिन्दी माध्यम से भाषाविज्ञान का शिक्षण काशी विश्वविद्यालय, प्रयाग, पटना, सागर आदि विश्वविद्यालयो की एम० ए० कक्षा में पहले से ही होता था; इसलिए माध्यम की दृष्टि से इस विषय के प्रतिपादन मे लेखक ने पारिभाषिक शब्दावली तथा भाषा की कठिनाइयों को बडी सावधानी के साथ परखा है और उनका सफल समाधान इस पुस्तक के प्रणयन मे प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार के तर्कों के प्रति मेरी कोई आस्था नही है कि जब तक भारतीय भाषाओं में विविध विषयों के क्षेत्र में विदेशी भाषाओ का समग्र साहित्य अनूदित रूप में नहीं आ जाता अथवा मौलिक रूप में उसी कोटि का साहित्य उसी मात्रा में नहीं उपलब्ध हो जाता, तब तक विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाओं को माध्यम नहीं बनाना चाहिए। उपर्युक्त कमियों को दूर करने के लिए उत्साही अनुवादकों, लेखकों तथा प्रकाशकों ने उद्योग किये हैं और कर रहे है। शिक्षा-मंत्रालय का केन्द्रीय हिन्दी निर्देशालय भी इस दायित्व को तेजी के साथ पूरा कर रहा है लेकिन मेरी धारणा है कि अब यदि थोड़े-से उपलब्ध साहित्य के आधार पर भी भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बना दिया जाय और उनका व्यवहार किया जाने लगे तो आगे के काम में विद्यार्थियों और अध्यापकों को स्वत: जिस कमी का अनुभव होगा, वही कमी सारे अभावों को दूर करने के लिए इस दिशा में सामूहिक प्रयासों का कारण बन जायगी; और इसमें तो मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है कि भारतीय भाषाओं मे विविध विषयों पर श्रेष्ठ साहित्य का सृजन तभी हो सकेगा, जब हम अपनी भाषाओं में अध्ययन-अध्यापन और चिन्तन करने के अभ्यस्त हो जायेंगे। चले बिना जैसे चलना नहीं सीखा जा सकता, वैसे ही माध्यम के रूप में भारतीय भाषाओं का व्यवहार किए बिना उनमें पर्याप्त क्षमता का विकास नहीं हो सकता।

हिन्दी की भापिकी-विषयक पुस्तकों में प्राय: एक ही प्रकार की सामग्री मिलती है। यह पुस्तक इस दृष्टि से अपना पृथक् स्थान रखती है । विषय-क्षेत्र के अति-विस्तार का दोष भी इसमें नहीं है । ऐसे बड़े-बड़े शीर्षक इस पुस्तक में सम्मिलित नहीं किये गये हैं जिनका भाषिकी की प्रकृति को समझने-समझाने में कोई योग नहीं होता, लेकिन जो हिन्दी में मिलने वाली पुस्तकों का अधिकांश स्थान घेर लेते हैं । इसमें कम शीर्षक हैं और उनमें संक्षिप्त सामग्री है। कुल मिलाकर मुझे यह पुस्तक ऐसी प्रतीत हुई है जिसे बिना काट-छाँट किये भाषिकी के क्षेत्र में गंभीरतापूर्वक प्रवेश कर रहे विद्यार्थियों के हाथों में नि:संकोच दिया जा सकता है । इसमें अपेक्षित सामग्री दी गई है, अपेक्षित मात्रा में दी गई है और अपेक्षित ढंग से दी गई है। यह इस पुस्तक की विशेषता है ।

भाषिकी का विषय प्राय: क्लिष्ट माना जाता है। बहुधा देखा जाता है कि भाषिकी अपने अध्येताओं को अपने वश में कर लेती है लेकिन इस पुस्तक में लेखक ने भाषिकी को अपने वश में कर लिया है। इस विषय पर कितनी बात बतानी है और कितनी नहीं, इस बात का निश्चय प्रत्येक अध्यापक तथा लेखक को करना पड़ता है। इस दिशा में विषय के वशीभूत हो जाना (जो वस्तुत: विषय के परम्परागत प्रस्तुतीकरण के वशीभूत हो जाना होता है) मेरी दृष्टि में अध्यापक और लेखक की असफलता है । सफल अध्यापक और लेखक विषय को अपने वशीभूत कर लेता है । इस गुण के अनेक स्पष्ट प्रमाण इस पुस्तक में देखने को मिलेगे । उदाहरणार्थ, पृ० ३० की दूसरी पादटिप्पणी या पृ० ५७ की पादटिप्पणी ली जा सकती हैं । पृ० ६४ की पादटिप्पणी में यह गुण और भी अधिक स्पष्ट है, जिसमें दो विकल्पों की बात आई है, किन्तु विवादास्पद बात को न छेड़ने के लिए एक ही विकल्प का उल्लेख किया गया है ।

परन्तु सरलता और सुबोधता की इस वेदी पर मौलिकता और विद्वत्ता की गहराई का बलिदान नहीं होने पाया है। मर्ष-विज्ञान में (लेखक ने Morphology के लिए मर्ष-विज्ञान शब्द का प्रयोग किया है) 'कीजिए' और 'करिए' की समीक्षा इसका प्रमाण है । पृ० ७५ पर 'ड' के द्विस्वरान्तर्गत वितरण के सन्दर्भ में जो उदाहरण दिये गये हैं, उनका चुनाव जान-बूझकर किया गया है, क्योंकि लोग ऐसा मान बैठे हैं कि 'ड' और 'ड़' का व्यतिरेक प्रदर्शित करने वाले लघुतम युग्म हिन्दी में नहीं हैं । इस मिथ्या धारणा का लेखक ने खंडन किया है । विज्ञापित उदाहरणों में एक-आध पर बोलीगत होने का संदेह हो सकता है, लेकिन दो-एक उदाहरण निश्चय ही बोलचाल की खड़ी बोली में मिल जायँगे ।

मौलिकता और गहराई के लिए अन्य द्रष्टव्य स्थल हैं—पृ० ७१-७२ की पादटिप्पणियाँ, वाक्य-विज्ञान में 'और' चिह्नक की आकृतिमूलक व्याख्या तथा पृ० ९८-९९ पर भाषा और बोली के संबंध का किया गया व्यावहारिक विवेचन । अपना

मत प्रकट करने में लेखक ने तनिक भी नरमी नही बरती है, इसका प्रमाण 'भाषा की उत्पत्ति' के अंतिम पृष्ठों पर मिलता है लेकिन लेखक सकीर्ण और कट्टरपंथी नही हैं। वे व्यावहारिक दृष्टिकोण वाले उदारवादी है। इसका प्रमाण 'भाषिकी का उपयोग' के अंतर्गत शब्द-निर्माण के प्रसंग में उन्होंने दिया है।

पुस्तक कई नवीनताओं के लिए उल्लेखनीय है। भाषा की आकृति (रूप) से संबंध रखने के कारण यहाँ सीमान्तिकी में सांकालिक दृष्टि ही अपनाई जा सकी है। फलतः जो सामग्री उक्त शीर्षक के अतर्गत दी गई है, वह अन्य हिन्दी पुस्तकों मे नही मिलती। मर्ष-विज्ञान में वाग्भागों का नामोल्लेख-मात्र नही कर दिया गया है, न उन पर दार्शनिक आरोप करने वाले परम्परागत विवरण दिये गये है, बल्कि शुद्ध आकृतिवादी दृष्टि से उनके निर्धारण की प्रक्रिया समझाई गई है। मर्षस्वानिमी मर्षिमो की स्वानिमिक आकृति से सबंध रखती है, इसलिए उसमें मर्षिमों के आप्त रूपों का भी समावेश किया गया है और केवल 'संधि' का उल्लेख करने की असंगति से बचा गया है। इससे स्वानिकी-स्वानिमी से मर्षस्वानिमी-मर्षविज्ञान के विवेच्य विपय का समानान्तरण भी बना रहता है, जिससे एकरूपता की रक्षा हो जाती है। इस पुस्तक के दो अध्याय इस दृष्टि से अधिक उल्लेखनीय हैं—'भाषा : एक वैज्ञानिक दृष्टि' और 'भाषिकी का उपयोग'। 'भाषिकी क्या है ?' में भी लकीर पीटने की परम्परा के उल्लंघन के दर्शन होते है। भाषिकी की शाखाओं का जैसा व्यवस्थित, सरल और सन्तोषजनक वर्गीकरण इसमें किया गया है, वह अपूर्व है।

पुस्तक के सभी पृष्ठ लेखक की सूक्ष्म विश्लेषण-क्षमता के परिचायक है। प्रथम दो अध्याय 'भाषा' का परिचय-मात्र देते हैं, लेकिन लेखक की विवेचना-शक्ति का परिचय पाठक को इन्हीं से हो जाता है। पुस्तक की शैली रोचक और मनोहर है। यदि कहीं दुरूहता प्रतीत हो तो समझिए कि वह शैली की नहीं, विवेच्य विषय की होगी।

हिन्दी-अंगरेजी और अंगरेजी-हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली के योग से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। परिशिष्ट में लेखक ने पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित अपने छह निबन्ध दे दिये हैं, जो पुस्तक में दी हुई सामग्री की पुष्टि या पूर्त्ति करते हैं अथवा सुबोध और रोचक ढंग से उससे संबंधित किसी नये विषय पर चर्चा करते हैं।

इस महत्वपूर्ण पुस्तक के प्रणयन के लिए मैं बड़े आनन्द के साथ डा० देवीशंकरजी को बधाई देता हूँ। मुझे विश्वास है कि यह ग्रंथ अपने विषय के क्षेत्र में गौरवपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा।

विश्वनाथ प्रसाद
निर्देशक
केन्द्रीय हिन्दी निर्देशालय
(शिक्षा-मंत्रालय)

नई दिल्ली
ता० १८-३-१९६४ ई०

अनुक्रमणिका

विशेष चिह्न

̑	ह्रस्वता-द्योतक
√	धातु-चिह्नक
>	पूर्ववर्ती रूप व्युत्पादक और परवर्त्ती रूप व्युत्पन्न है
<	पूर्ववर्ती रूप व्युत्पन्न और परवर्त्ती रूप व्युत्पादक है
❀	पुनर्रचित रूप अथवा कल्पित और मिथ्या रूप

भाषा

पहला अध्याय

भाषा का अर्थ

१. जिस वस्तु का प्रयोग हम बचपन से निरन्तर करते चले आ रहे हैं और जिसका उपयोग हमारे लिए अत्यंत सहज-स्वाभाविक है, उसकी व्याख्या भी हम उतने ही सरल ढंग से शब्दों में नहीं कर पाते, किन्तु इतना सब बता सकते हैं कि कहने और बोलने आदि का संबंध भाषा से ही है। और इन क्रियाओं की उपस्थिति के विविध प्रसंग मिलते हैं। उदाहरणार्थ :—

एक तारा टूट कर क्या कह गया !

अथवा

एक दिन बोला बवंडर धूल से।

क्या इन दोनों पंक्तियों में भाषा के प्रयोग की चर्चा आई है ? तारे को टूटते सबने देखा होगा ; किन्तु किसी ने क्या उसे कुछ कहते भी सुना है ? बवंडर सबने देखा होगा और उसके साथ उड़ती हुई धूल भी सबने देखी होगी ; किन्तु क्या किसी ने उन्हें परस्पर बातचीत करते हुए भी देखा है ? तब फिर, बवंडर धूल से बोला— ऐसा क्यों कहा गया है ?

ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों शंकाएँ सत्य हैं। इन प्रसंगों में 'भाषा' का प्रयोग नहीं होता ; 'कह गया' और 'बोला' का प्रयोग कदाचित् मिथ्या है। लेकिन क्या कवि को इन प्रयोगों की अशुद्धता का पता नहीं था ? इस प्रश्न के पहले हमें स्वयं इस बात का पूरी तरह निश्चय कर लेना चाहिए कि ये प्रयोग अशुद्ध ही हैं, शुद्ध तो नहीं हैं। शुद्धता-अशुद्धता के निर्णय का एक उपयोगी ढंग यह है कि हम ये पंक्तियाँ स्वयं पढ़ें और दूसरों को पढ़ाएँ। इसके बाद स्वयं अनुभव करें और दूसरों से पूछें कि ये पंक्तियाँ हमें अखरती तो नहीं हैं, यदि यही बात हमसे पद्य में कहलाई जाय तो हम इसी प्रकार स्वयं कहने में किसी प्रकार की अशुद्धता का अनुभव तो नहीं करते। निश्चय ही, इस जिज्ञासा का उत्तर होगा—नहीं। इस परीक्षण से निष्कर्ष यह निकला कि उक्त दोनों पंक्तियाँ शुद्ध हैं।

एक बार हमने इसे अशुद्ध समझा, दूसरी बार शुद्ध। यह असंगति क्यों ? कदाचित् इसका कारण यह है कि हमने 'भाषा', 'कहना' और 'बोलना' शब्दों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं पकड़ा था। वास्तव में ये शब्द भिन्न होते हुए भी अर्थ में बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। 'भाषा' शब्द संस्कृत की √भाष् धातु से निष्पन्न होता है,

जिसका अर्थ 'बोलना' ही है। इस प्रकार इन कविता-पंक्तियों के प्रसंगों में 'कहने' और 'बोलने' के अतिरिक्त 'भाषा' शब्द का प्रयोग भी संभव है। और इन तीनों के अर्थों के दो स्वरूप है। एक, किसी भी ढंग से बात व्यक्त कर दी जाय। दो, मुँह से कुछ ध्वनि उत्पन्न करके ही यह कार्य संपन्न किया जाय। जब हमें उक्त कविता-पंक्तियाँ अशुद्ध लगने लगी थी, तब हम दूसरे अर्थ से प्रभावित थे। जब हमने इन्हें शुद्ध माना तब हमारे मस्तिष्क में पहला अर्थ था। तारे ने मुँह खोलकर कुछ नही कहा, वह टूट गया। इस टूट जाने के कार्य से ही उसने यह व्यक्त कर दिया कि भरे-पुरे आकाश के अगणित देदीप्यमान तारों में से शोभाभरी रात में कौन किस समय सहसा काल-कवलित हो जायगा, नहीं कहा जा सकता; संसार नश्वर है और हमें इससे शिक्षा लेनी चाहिए। जहाँ तक तारे के टूटने का और उसके उपर्युक्त बातें कहने का संबंध है, इस कविता-पंक्ति के अनुसार ये दोनों कार्य अलग-अलग नहीं हैं। उसका टूटना ही यह सब कहना है।

इस पक्ति में जो कुछ कहा गया है, वैसी बातें दार्शनिक प्रकृति के लोगों को सदा ही सूझा करती हैं। इन्हें पद्यबद्ध करने का सामर्थ्य कवियों को प्राप्त होता है। तारे में अथवा किसी अन्य निर्जीव पदार्थ में भी भाषा की क्षमता देखना इन लोगों के लिए सहज है; किन्तु 'भाषा' का यह व्यापक अर्थ इन लोगों के अलावा अन्य सामान्य जनों के लिए भी यथार्थ है क्योंकि इस प्रकार की दार्शनिक चिन्तनाओं का सीधा संबंध हम लोगों के जीवन से होता है और काव्य-सर्जक हों न हों, काव्य-रसास्वादक तो कुछ-न-कुछ हम सभी होते हैं। इन दोनों हैसियतों से भाषा का यह व्यापक अर्थ हमें भी स्वीकार्य और सर्वथा ग्राह्य है।

दूसरी पक्ति में एक निर्जीव पदार्थ को दूसरे निर्जीव पदार्थ से बातचीत करते दिखाया गया है। यहाँ कवि ने इन पदार्थों में मनुष्य की भाँति जीवन का आरोप कर लिया है। यह मनुष्य की कल्पनाशीलता है जो चराचर में अपने-जैसे सुख-दुःख, राग-द्वेष, बधाई-उपालम्भ आदि की खोज करती है। यह आलंकारिक प्रयोग है और इस कल्पनाशीलता से हमारा प्रकृतिगत तथा पुराना परिचय है। इस नाते इस पंक्ति में निहित 'भाषा' के व्यापक अर्थ में भी हमें कुछ अजनबीपन नहीं दिखता।

किन्तु जब हमारी स्थिति भाषिकी के अध्येता की होती है, तब हम निर्जीव पदार्थों की कल्पित और अनुच्चरित भाषा से संबंध नहीं रखते।

२. बिना बोले हुए बात व्यक्त कर देने के ऐसे प्रयोग और प्रसंग निर्जीव पदार्थों के ही नहीं, जीवित प्राणियों के भी मिलते हैं। श्रमिक मधुमक्खी जब किन्हीं पौधों में मधु का पता पा लेती है तो अपने छत्ते में वापस लौट आती है और वहाँ आकर एक विशेष प्रकार का नृत्य करने लगती है। इस नृत्य के द्वारा वह अन्य श्रमिक मधुमक्खियों को अपने नए मधु-स्रोत की उपस्थिति की ही सूचना नहीं देती बल्कि उसकी स्थिति, छत्ते से उसकी दिशा और दूरी का भी पता देती है।

बन्दर एक-दूसरे के सिर के जूँ बीनने के लिए मुँह से कुछ नहीं कहते, केवल सिर झुकाकर पास बैठ जाते है और उनकी बात समझ ली जाती है।

मनुष्यों में भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते है। किसी बड़े-बुजुर्ग से अपमानित होकर जब हम चुपचाप बैठ जाते है और आवश्यकता से अधिक गम्भीर हो जाते है, तब मुँह से क्या कहना शेष रह जाता है? किसी के द्वारा बार-बार बुलाये जाने पर भी जब हम अपने स्थान से नही उठते, तब क्या हमारी अनिच्छा व्यक्त नही हो जाती? किसी व्यक्ति-विशेष के निकट मुँह से कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती। उदाहरणार्थ :—

मेरे नयनों की भाषा तुम पढ़ ही लोगे
इसलिए तुम्हारे तीर मौन हो जाता हूँ।

इसी प्रकार निष्क्रिय न रहकर कभी-कभी मनुष्य सक्रिय होकर अपनी बात प्रकट करता है; किन्तु मुँह से कुछ कहने की आवश्यकता नही समझता। स्लेट पर लिखे हुए इम्ले की जाँच के बाद जब अध्यापक किसी विद्यार्थी की पीठ ठोंकता है, तब क्या उसका अभिप्राय विद्यार्थी से छिपा रहता है? साल भर बाद परदेश से लौटा पिता घर मे घुसते ही जब अपने तीन साल के बच्चे के गाल थपथपाता है, तब क्या उसकी बात व्यक्त नही होती? रामू ने पीछे से आकर जब श्यामू के सिर पर लाठी दे मारी, क्या तब भी उसके क्रोध की सूचना पाने के लिए रामू को किन्ही शब्दों की आवश्यकता रह गई?

कभी कभी लोग आँखों ही आँखों में बातें कर लिया करते हैं। लोग आँखें मिलाते है, आँखें चुराते हैं, आँखें लड़ाते हैं, आँखे नचाते हैं, आँखे उठाते है, आँखें झुकाते हैं, आँखें बनाते है, आँखें खोलते हैं, आँखें मूँदते है, आँखें फोड़ते है और आँखें मारते हैं। लोग आँखें फैलाते हैं, आँखे सिकोड़ते हैं। लोग आँखें दिखाते है। ये सब केवल मुहावरे नहीं है, बल्कि सचमुच ये क्रियाएँ की जाती हैं। मुहावरों के रूप में प्रयुक्त होने के कारण यह आवश्यक नहीं है कि इन शब्दों का प्रयोग हो रहा हो, तो उनके पीछे ये क्रियाएँ की ही जा चुकी हों। लेकिन ये क्रियाएँ की जाती हैं और जब की जाती हैं तब इनका कुछ अर्थ होता है।

रास्ते में जाते हुई किसी व्यक्ति को देखकर हाथ जोड़ देना कुछ अर्थ रखता है। हिलती हुई हथेली का कुछ अर्थ न होता तो पास आता हुआ व्यक्ति कैसे लौट जाता अथवा दूर जाता हुआ व्यक्ति पास कैसे आ जाता? अँगूठा दिखाने, जीभ दिखाने, जीभ निकालने और पीठ दिखाने का अर्थ कौन नही जानता? छोटे बच्चे अँगूठे मिलाकर मित्रता का और कनिष्ठिका मिलाकर अमित्रता का आरंभ करते हैं। स्काउटों की झंडियाँ और मार्ग में बनें हुए सकेत कुछ अर्थ देते है। गार्ड की हरी अथवा लाल झंडी का हिलना और हरी अथवा लाल रोशनी का जलना ड्राइवर को

क्या कुछ सूचना नहीं देता ? किसी वक्ता की बात सुनकर श्रोता ताली पीटकर कुछ व्यक्त ही तो करते हैं। वक्ता की हिलती हुई या मेज पर पटकी जा रही मुट्ठी उसके वक्तव्य की तीव्रता की सूचना देती है और पुष्टि भी करती है।

समाज के सदस्य होने के नाते इन सब प्रक्रियाओं में हमारा अपनापन है और हमारे निकट इनका पूरा-पूरा मूल्य है। किन्तु जब हम भाषिकी के अध्येता की हैसियत में होते हैं, तब हम इनकी चर्चा नहीं करते।

३. ऊपर हम 'भाषा' के अपेक्षाकृत संकुचित अर्थ का उल्लेख कर चुके हैं। इसमें मुँह से कुछ बोलना आवश्यक होता है। स्पष्ट है कि मुँह से बोलना प्राणियों की क्रिया है। मनुष्यों को बोलते हुए तो हम सुनते ही हैं, जीव-जन्तु भी बोलते हैं। इनकी बोली हम सबने सुनी है। कुत्ता आते हुए व्यक्ति के साथ के कुत्ते को देखकर गुर्राता है और अपना विरोध प्रकट कर देता है। नाचती हुई मयूरी की आवाज़ कितने ही मयूरों को पास बुला लेती है। छुरी चलने के पहले ही कसाई का बकरा चिल्लाने लगता है। कुत्ते के भौंकने की एक शैली ऐसी है कि मुहल्ले के सारे कुत्ते उसके पास एकत्र होकर भौंकना आरम्भ कर देते हैं। हम लोगों ने ऐसी पंक्तियाँ भी बचपन में पढ़ी हैं:—

खरहा बोला शेर से—देर हुई श्रीमान् !
एक दूसरे शेर ने मुझे किया हैरान ।।

अथवा

चूँ-चूँ बोले चूहेराम—
तुमको हमसे कैसा काम ?

यहाँ खरहे और शेर की जिस बातचीत का हवाला दिया गया है, वह हिन्दी में तो हुई न होगी। और खरहे तथा शेर की एक भाषा हो नहीं सकती। हो भी तो खरहा ऐसा सन्देश लेकर शेर के सामने उपस्थित नहीं होगा। अस्तु, यह बातचीत हुई ही नहीं और जैसा कि हम लोगों ने बचपन में ही समझ लिया था, यह एक कल्पित कहानी का अंश है जिस कहानी की रचना सीख देने के उद्देश्य से हुई है। इसमें भी हमारी कल्पनाशीलता उत्तरदायी है जिसने इन पशुओं पर मनुष्यों की भाँति वाक्शक्ति का आरोप कर लिया है।

इसी प्रकार चूहेराम चूँ-चूँ तो बोल सकते हैं लेकिन "तुमको हमसे कैसा काम" यह नहीं बोल सकते। और यह सारी बात चूहेराम ने चूँ-चूँ भाषा में भी नहीं कही होगी, इतना तय है। वास्तव में, यहाँ भी उक्त कल्पनाशीलता दिखती है और इस कल्पनाशीलता के हम बचपन से ही अभ्यस्त हैं क्योंकि जानवरों की जितनी भी कहानियाँ नानी ने हमें सुनाई हैं, उनमें सारे जानवर मनुष्यों की तरह बोलते हैं।

ये कहानियाँ हमने सुनी हैं, हमारे छोटे भाइयों ने सुनी हैं और हमारे बच्चे

भी इन्हें सुन रहे है। नानी की कहानियों की यह अक्षुण्ण परम्परा हमारी मधुर सम्पत्ति है और उसे उसी प्रकार स्वीकार करते हुए हमें हर्ष होता है ; लेकिन जब हम भाषिकी का अध्ययन करेंगे तब पशु-पक्षियों की इस बोल-चाल को भूल जायँगे और कुत्ते की भों-भों तथा बिल्ली की म्याऊँ-म्याऊँ की ओर भी हमारा ध्यान नहीं जायगा। हम केवल मनुष्य को अपना लक्ष्य बनाएँगे।

४. मनुष्य ध्वनियों का उत्पादन करने में सिद्धहस्त है। मुट्ठी को मेज पर पटककर, कुंडी खटखटाकर या ताली बजाकर वह ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। यदि मुँह से उत्पन्न की जाने वाली ध्वनियों पर ही विचार करें तो उनकी संख्या भी बहुत है। जिन घरों में बहुएँ पर्दा करती है, उनमें बड़े-बूढ़े खाँसकर अपने आने की सूचना देते हैं। कुछ अकड़बाज ग्रामीण अपने शत्रुओं के घर के पास से निकलते हुए चुनौती देना चाहते हैं तो खाँसते या खखारते हैं। किसी के प्रति अपनी घृणा प्रकट करनी हुई तो कुछ हल्के ढंग के लोग खखार-खखारकर (ताकि उद्दिष्ट व्यक्ति सुन ले) थूकते हैं। कुछ लफंगे स्त्रियों और लड़कियों को देखकर भद्दे ढंग से खाँसते हैं; कुछ शोहदे सीटी बजाते हैं। आजकल के लड़के जब माँ-बाप से चुराकर सिनेमा जाने का कार्यक्रम बनाते हैं तो परस्पर सीटी बजाकर अपने आने की सूचना देते हैं।

हम घोड़े को चलने के लिए टिटकारी देते हैं, बच्चे को चुप करने के लिए पुचकारते हैं। दिसम्बर-जनवरी की रातों में जब मित्रों के साथ बैठकर ही-ही करते है तब जाड़े के मारे सी-सी भी करते जाते हैं। कोइ वीभत्स दृश्य देखकर छिः-छिः करते हैं और किसी पर दया आई, तो च्-च्-च्-च् करने लगते हैं। पुरुष ठहाका लगाते हैं, स्त्रियाँ खिलखिलाती हैं और बच्चे किलकते हैं। विपत्ति पड़ने पर चीखते-चिल्लाते हैं, रोते हैं, सिसकते हैं। ये सारे काम मनुष्य मुँह से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों से करता है।

ये सारी ध्वनियाँ हमारे जीवन का अभिन्न अंग हैं ; हम इनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। किन्तु भाषिकी में इन पर विचार नहीं किया जाता। इन ध्वनियों से शब्द नहीं बनते और वाक्यों में इनका प्रयोग नहीं होता। जो शब्दों के रूप में प्रयुक्त होती हैं, वे वस्तुतः परिवर्त्तित होती हैं। 'उसका छिः-छिः करना उचित नहीं था' इस वाक्य में प्रयुक्त 'छिः-छिः' उसी प्रकार नहीं बोला जाता जिस प्रकार हम छिः-छिः करते हैं। ऊपर लिखा हुआ 'च्-च्-च्-च्' भी उस प्रतिरूप से भिन्न है जिसका प्रयोग हम प्रसंगानुसार दया-करुणा में करते हैं। हँसना-रोना आदि क्रियाएँ तो ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध किसी भाषा से नहीं है। वे सार्वभौम है और हमारा संबंध भाषिकी में उन्हीं ध्वनियों से होता है, जो भाषा-भाषा के अनुसार बदलती हों, जिन्हें पास-पास रखकर शब्द बनाए जाते हों। उदाहरणार्थः—क, ख, ग, घ, आदि।

इस ढंग से उत्पन्न हुई ध्वनियों के संयोजन से जो भाषा बनती है और बोली जाती है, भाषिकी के लिए वही **भाषा** है।

५. भिन्न-भिन्न ध्वनियों और शब्दोंवाली भाषाओं को एक-दूसरे से पृथक् मानते हैं और उन्हें **भाषाएँ** कहते हैं। मानव-मात्र जिस प्रकार इन ध्वनियों का व्यवहार करता है, उस सबको सम्मिलित रूप से 'भाषा' कहा जाता है। किसी एक समुदाय या क्षेत्र की भाषा भाषा-विशेष होती है और 'भाषाओं' के अन्तर्गत आती है। 'भाषा' एक है, उसे मनुष्य काम में लाते हैं। उसका विभाजन संभव नहीं है। 'भाषाएँ' अनेक हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न मनुष्य-समुदाय काम में लाते हैं। भाषाओं का विभाजन संभव है : हिन्दी, मराठी, तमिल आदि 'भाषाएँ' हैं।

इनके और भी भेद-प्रभेद संभव है। प्रत्येक व्यक्ति की भाषा को अलग करके देखा जा सकता है। किन्तु

खल-भाषा समझबु जग माँहीं। यहिते अधिक कठिन कुछु नाँहीं ।।

इसमें जिस 'भाषा' का उल्लेख किया गया है, उससे भाषिकी का संबंध नहीं है। इस पंक्ति के अनुसार विभिन्न भाषाओं के दुष्ट लोग एक ही तरह से बोलते हैं और सारी भाषाओं के सज्जन दूसरी तरह से (किन्तु परस्पर-भिन्न नहीं, एक तरह से)। कोई व्यक्ति सर्वांग सज्जन होता है और कोई व्यक्ति सर्वांग दुष्ट, ऐसा सोचना ठीक नहीं है। ऐसे लोग मान भी लिए जायँ§ तो उनकी संख्या दो-चार से भी अधिक नहीं होगी। और यदि मनुष्य-मात्र को इन वर्गों में रखना संभव हो तथा इन दोनों वर्गों की भाषा में वस्तुतः किसी प्रकार का पारस्परिक भेद हो जबकि ये दोनों वर्ग अनेकानेक भाषाओं से निर्मित होने पर भी अपने-आप में एकरस हों, तो भी उक्त भेद भाषिकी के लिए कोई मूल्य नहीं रखता। इस प्रकार के वर्गीकरण भाषिकी में मान्य नहीं हैं। निम्नलिखित पंक्तियाँ भाषिकी की अभीप्सित भाषा के स्वरूप का संकेत करती हैं :—

उनके भी पीछे लक्ष्मण थे, कहा राम ने कि तुम कहाँ
विनत वदन से उत्तर पाया—तुम मेरे सर्वस्व जहाँ
सीता बोलीं कि ये पिता की आज्ञा पर सब छोड़ चले
पर देवर! तुम त्यागी बनकर क्यों घर से मुख मोड़ चले?

यहाँ तीन व्यक्तियों की परस्पर बातचीत का उल्लेख है जो किसी एक भाषा में की जा रही है। तीनों व्यक्तियों को किन्हीं वर्गों में रखना अनावश्यक है। तीनों ही किसी एक भाषा-समुदाय के सदस्य हैं। भाषिकी के लिए यही दृष्टिकोण मान्य है।

६. यहाँ इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि ग्रामोफ़ोन, टेप रिकार्डर, रेडियो और टेलीफ़ोन पर हम जिसे सुनते हैं, वह भाषा है कि नहीं। ऊपर

---

§ लोग ईसा, महात्मा गांधी और भगवान बुद्ध आदि को सर्वांगसज्जन कहना पसन्द करेंगे। नाथूराम गोडसे आदि कदाचित् हम लोगों को सर्वांगदुष्ट ही प्रतीत हों।

कहा जा चुका है कि भाषिकी की रुचि मनुष्य द्वारा उच्चरित भाषा में ही है। यहाँ हम यत्रो से सुनी हुई भाषा की बात कर रहे है। वास्तव में, ये सब भाषिकी के लिए भी भाषा के वैध रूप हैं क्योंकि इनका उच्चारण मनुष्य ही करता है। यत्र या तो उसे सुरक्षित कर लेते है या तुरन्त दूर तक प्रेषित कर देते है। किन्तु यह बात अवश्य है कि मनुष्य का उच्चारण सीधे सुनने मे यात्रिक विकृतियाँ नही आती, इसलिए अधिक सुविधा रहती है। इस दृष्टि से यत्र त्रुटिपूर्ण यद्यपि अपने-अपने स्थान पर वे अधिक उपयोगी भी है।

जिसे हम लिखते हैं या पढ़ते हैं, वह भी हमारी उच्चरित भाषा का प्रतिरूप है। इतना अवश्य है कि उसमें हमारे उच्चारण की बहुत-सी बातें अप्रकट रह जाती हैं। एक तो वैसे ही इस लिखित रूप का स्थान गौण है ; दूसरे उसमें कुछ न्यूनताएँ भी रह जाती हैं। इन सीमाओं को समझ लेने के बाद हम लिखित रूप का तिरस्कार नहीं करते, आवश्यकतानुसार उससे यथासंभव लाभ उठाते हैं। किन्तु इस दिशा में एक भ्रम से बचे रहना चाहिए जो निम्नलिखित पंक्तियों में विद्यमान है :—

यू अउरौ भा एकु तमासा।
पढ़ै लाग अँगरेजी भासा॥

कोई भाषा 'पढी' नहीं जाती, 'सीखी' जाती है। इसके लिए हमे उस भाषा के बोलने वालों में रहना होता है और जैसा वे बोलते है, वैसा ही बोलना होता है। दुर्भाग्यवश, सर्वदा और सर्वत्र ऐसा होता नही। हम लोग अँगरेजी भाषा 'सीखते' नही रहे है, वस्तुत: 'पढ़ते' ही रहे हैं, हम लोगों ने अँगरेजों के मुँह से सुनकर अँगरेजी नहीं सीखी है, अँगरेजी की पुस्तकों से सीखी है। और 'भाषा' बोली जाती है, लिखी या छापी नही जाती। इसीलिए हमने अँगरेजी की पुस्तको से पढ़करजो सीखा है, वह अँगरेजी नही है, अँगरेजी का एक बिगड़ा हुआ रूप है। इसे कुछ विदेशी 'बाबू§ इंग्लिश' कहते हैं, कुछ 'भारतीय इंग्लिश'।

भाषा हम लिखी हुई पुस्तकों से सीखते नही है ; सीखी हुई भाषाओं को पुस्तकों में लिख देते है।

७. इस प्रकार 'भाषा' के दोनों अर्थों को ग्रहण करने में निम्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ मुख्य रूप से लक्षित होती है :—

(क) प्राणी या पदार्थ निष्क्रिय रहते हैं। स्वाभाविक प्रक्रियाएँ होती रहती हैं। वे किसी पर कुछ व्यक्त नही करना चाहते। हमारा भावुक मन प्रसंगानुसार अर्थ ग्रहण कर लेता है और भाषा की स्थिति निहित मान ली जाती है। उदाहरणार्थ:—

---

§ बाबू अर्थात् क्लर्क।

(१) इस संपन्न नगर में विपन्नता का साकार रूप-सा यह भिखारी चिल्ला-चिल्लाकर दुनियाँ को बता रहा है कि········।

(२) किसी निर्दय स्वामी का घर से निकाला हुआ यह असहाय बूढ़ा कुत्ता ········कह रहा है।

(३) एक तारा टूटकर क्या कह गया !

(४) जो फूल अपनी सुवास से सारा उपवन सुवासित किए था, शाम को मुरझाकर गिरते समय उसने क्या कहा !

(ख) इस प्रकार की स्थिति की कल्पना प्रत्येक संज्ञा शब्द के साथ की जा सकती है, चाहे वह किसी भाव का द्योतक हो, चाहे क्रिया का, चाहे किसी वस्तु या अवस्तु का। उदाहरणार्थ :—

(१) मानिनि ! तुम्हें पुकार रहा है द्वार खड़ा ऋतुराज।

(२) अनस्तित्व दे रहा चुनौती जीवन को।

(३) तुझे पुकार रहा है रोना, हँसना तेरे यार को।

(ग) प्राणी कोई कार्य करते हैं जो मन की भावना की नैसर्गिक अभिव्यक्ति अधिक होता है, सोचकर प्रयुक्त किया जानेवाला भाषा का रूप कम। उदाहरणार्थः—

(१) मनुष्य का हँसना-रोना।

(२) श्रमिक मधुमक्खी का नृत्य।

(३) बछड़े के दूर जाने पर गाय का रँभाना।

(घ) मनुष्यों द्वारा अमौखिक संकेतों का प्रयोग। उदाहरणार्थः—

(१) हाथ जोड़ना।

(२) सिर हिलाना।

(३) अँगूठा दिखाना।

(ङ) मनुष्य की उच्चरित भाषा। लिखित भाषा भी इसी के अन्तर्गत आएगी, 'घ' के अन्तर्गत नहीं क्योंकि वह उच्चरित भाषा का ही गौण प्रतिरूप है। उच्चरित भाषा से पृथक् और उसके बिना लिखित भाषा की कोई सत्ता नहीं होती। हम उच्चरित भाषा ही तो लिखते हैं। अंधों की भाषा भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आएगी क्योंकि वह भी उच्चारण पर आश्रित है। 'घ' वर्ग के रूप उच्चरित भाषा पर आश्रित नहीं हैं।

और, मनुष्यों की इसी उच्चरित भाषा का अध्ययन हम भाषिकी के अन्तर्गत करते हैं।

दूसरा अध्याय

भाषा की परिभाषा

१. **भाषा यादृच्छिक वाक्प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके माध्यम से मानव-समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।** इस परिभाषा के कई अंग है, जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

२. निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़िए :—

(क) रुरुरुरुरुरु रुरुरु रुरुरुरु रुरु रु रुरुरुरुरुरुरुरुरु.......।

(ख) कुरु कुरु कुरु कुरुकुरु कुरुकुरु कुरु कुरु........।

(ग) कुरुरु कुरुरु कुरुरु कुरुरु........।

(घ) कुकुरु कुकुरु कुकुरु कुकुरु कुकुरु........।

(ङ) कुकुरुरु कुकुरुरु कुकुरुरु कुकुरुरु कुकुरुरु कुकुरुरु.......।

इन पंक्तियों का अर्थ तो कुछ है ही नहीं, किसी हिन्दी-भाषी को इनका रूप भी स्वाभाविक नहीं लगेगा। इसका कारण यह है कि इनमें जिस प्रकार की व्यवस्था हमें दिख रही है, वह हिन्दी भाषा में **व्यवस्था** नहीं कही जा सकती। किसी एक ही ध्वनि की या ध्वनि-समूह की अनन्त आवृत्ति हिन्दी भाषा में नहीं दिखाई देती। इस दृष्टि से उपर्युक्त पंक्तियाँ हिन्दी की व्यवस्था के अनुकूल नहीं हैं। अब निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़िए :—

(क) ड़ीकल से एक ढ़ोसरा ङीबेल गया।

(ख) णीरी में ञारा कुकुड़ला।

ये दोनों पंक्तियाँ एक दृष्टि से कुछ कम गड़बड़ लगेंगी। इनके कुछ ध्वनि-समूह उसी क्रम से आये हैं, जिस क्रम के लिए हिन्दी की व्यवस्था अनुमति देती है। किन्तु कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी आई हैं जो प्रथम पंक्ति-समूह को देखते हुए हिन्दी की व्यवस्था का अधिक उल्लंघन करती हैं। 'रु' और 'कु' जिन शब्द-स्थितियों में आये हैं, वे हिन्दी के लिए स्वाभाविक हैं। लेकिन हिन्दी की व्यवस्था ड़—ढ़—ङ—ण—ञ का प्रयोग शब्द के आरंभ में नहीं होने देती। इस दृष्टि से ये पंक्तियाँ भी हिन्दी की व्यवस्था के अनुकूल नहीं हैं। अब निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़िए :—

(क) लोश के वैशल्य की पौरन्यता वेक्लित है।

(ख) तरीय का आंपित मैंकुल्य प्रशेषणीय है।

जहाँ तक हिन्दी की ध्वनि-व्यवस्था का संबंध है, ये दोनों पंक्तियाँ निर्दोष हैं। प्रत्येक भाषा की ध्वनि-व्यवस्था इस बात का निश्चय करती है कि उसमें कितनी और कौन-कौन सी ध्वनियाँ हो सकती हैं तथा वे ध्वनियाँ कितने लम्बे शब्दों को बनाने के लिए किस क्रम से आ सकती हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में जो लिपिचिन्ह व्यवहृत हुए हैं, वे हिन्दी की व्यवस्था के अनुकूल हैं (यहाँ यह बात अप्रासंगिक होगी कि 'ष' का उच्चारण कैसा होता है। उच्चारण-संबंधी विशेषताओं की लिपि से तुलना करने से यहाँ कुछ भी सिद्ध या असिद्ध नहीं होता)। इसके बावजूद यदि ये पंक्तियाँ किसी हिन्दी-भाषी को ग्राह्य न हों तो इसका कारण यह नहीं है कि इनकी 'व्यवस्था' में कोई दोष है ; इसका कारण कुछ और ही है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

इसी प्रकार जो ध्वनि-समूह 'शब्द' नामक इकाई बनाते हैं, वे शब्द के स्तर पर भी एक व्यवस्था का अनुसरण करते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में ध्वनि-व्यवस्था निर्दोष है ; किन्तु शब्द-व्यवस्था ठीक नहीं है :—

(क) में उस गया राम के वाह !

(ख) राम श्याम आया गया ने में कौन।

इसी भाँति प्रत्यय आदि शब्द से छोटे तत्त्व किसी भी शब्द में जुड़ने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं। इसकी भी एक व्यवस्था है। उदाहरणार्थ:—सुन्दरता, पांडित्य, चतुराई, सफेदी, कालिमा आदि शब्द हिन्दी को स्वीकार हैं, किन्तु *पंडितता, *पंडिती, *पडितिमा, *सुन्दराई, *सुन्दरिया, *चतुरी, *चतुरिमा, *सफेदता, *साफेद्य, *सफेदाई, *सफेदिमा, *कालाता, *काल्य, *कालाई आदि शब्द हिन्दी की व्यवस्था के निर्णयानुसार अशब्द हैं।

इन सारे उदाहरणों के विपरीत, निम्नलिखित वाक्य हिन्दी की ध्वनि-व्यवस्था के अनुरूप हैं क्योंकि इनमें वही ध्वनियाँ प्रयुक्त हुई हैं जिनके लिए हिन्दी अनुमति देती है, वे शब्दों में उन्हीं स्थितियों में आई हैं जो हिन्दी के लिए स्वाभाविक हैं, उनका संयोजन उतने ही बड़े भागों में हुआ है जो हिन्दी के शब्दों की माप के अनुकूल हैं। इसी प्रकार इनकी शब्द-व्यवस्था भी हिन्दी के विरुद्ध नहीं है क्योंकि प्रत्यय आदि ठीक-ठिकाने से जोड़े गये हैं, शब्द उसी क्रम से रक्खे गये हैं जो हिन्दी की वाक्य-रचना के द्वारा समर्थित है। देखिए :—

(क) कल प्रातःकाल आपकी उपस्थिति प्रार्थित है।

(ख) भाषिकी का अध्ययन-अध्यापन भारतवर्ष में निरंतर बढ़ रहा है।

(ग) मनुष्य सौन्दर्य का उपासक है।

(घ) विद्या-व्यसनी व्यक्ति को मानसिक संकीर्णताओं से मुक्त होना चाहिए।

(ङ) विनय और स्वाभिमान, मृदुता और सत्यवादिता का सन्तुलित समन्वय ही व्यक्तित्व के विकास की पराकाष्ठा है।

३. हमारी परिभाषा के अनुसार यह व्यवस्था **वाक्प्रतीकों** की होती है। वाक्प्रतीक का तात्पर्य यह है कि उसका उच्चारण मुँह से हुआ हो और उसका कुछ अर्थ हो। यदि अर्थ नहीं है तो प्रतीकात्मकता नहीं मानी जायगी। पीछे आरम्भ में जो व्यवस्था की दृष्टि से सदोष या निर्दोष पंक्तियाँ दी गई हैं, उनमें प्रतीकात्मकता नहीं है। 'कुकुरु' का कुछ अर्थ नहीं है। इसी प्रकार 'लोश', 'वैशल्य', 'पौरन्यता,' 'वेक्लित', 'तरीय', 'आंपित', 'मैकुल्य', 'प्रशेषणीय' भी प्रतीक नहीं हैं। यदि हम दीवाल पर 'चिड़िया' लिख दें तो यह एक प्रतीक है ; अँगुली हिलाकर किसी को बुलाएँ तो यह भी एक प्रतीक है लेकिन ये वाक्प्रतीक नहीं हैं। वाक्प्रतीक वही होते हैं जिनमें 'वाक्' या 'वाणी' कार्य करे। निम्नलिखित शब्द और वाक्य पढ़िए। जब आप मुँह से इनका उच्चारण करेंगे तो ये वाक्प्रतीक होंगे क्योंकि इनमें प्रतीकात्मकता अर्थात् अर्थ भी है।

(क)	(ख)	(ग)	(घ)	(ङ)
कमल	वह	खाया	सुन्दर	यहाँ
आराम	वे	गई	सुकुमार	उधर
बेचैनी	तू	हँसे	श्यामल	ऊपर
कुर्सी	तुम	आओ	उदार	नीचे
आमदनी	मैं	रोना	स्वस्थ	कहाँ
उदारता	हम	पिएगा	खिन्न	धीरे
दर्प	तुम्हें	ले	गंभीर	तभी
वर्षा	हमारा	उठा	पुराना	सहसा
अध्ययन	उसे	मारा	चिड़चिड़ा	निरन्तर
पुस्तकालय	मुझे	गाता	शान्त	व्यर्थ

(क) मैं कल वाराणसी गया था।

(ख) सागर विश्वविद्यालय एक विख्यात विश्वविद्यालय है।

(ग) आगरे की सैर की जाय !

(घ) अध्ययन करो अध्ययन !

(ङ) भारतवर्ष में राजनैतिक स्थिरता का श्रेय बहुत कुछ हमारे प्रधान मन्त्री को है।

चूँकि वाक्प्रतीक अर्थवान् होते हैं और शब्द या शब्दांश-स्तर पर उनकी ध्वनि-व्यवस्था स्वतः भाषा की प्रकृति का अनुसरण करती है, इसलिए इस परिभाषा में ध्वनि-स्तर पर उस 'व्यवस्था' का अलग से उल्लेख करने की आवश्यकता ही नहीं

पड़ती जिसकी ओर हमने आरंभ में संकेत किया है। इससे 'लोश' 'और 'वैशल्य' जैसे अनुक्रमों की संभावना पर भी विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

४. हमारी परिभाषा के अनुसार ये वाक्प्रतीक **यादृच्छिक** होते हैं। इसका अर्थ यह है कि हमने जिन भावों, वस्तुओं के लिए कुछ शब्द चुने हैं, उनसे उनका कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। एक विशेष प्रकार के फूल को हम 'गुलाब' इसीलिए कहते हैं कि हम परम्परागत रूप से उसे 'गुलाब' कहते आ रहे हैं। एक विशेष जानवर का द्योतन हम 'गाय' शब्द से केवल इसीलिए करते हैं कि हमने जिन लोगों से भाषा सीखी है, वे भी उसे 'गाय' ही कहते थे। स्वयं उस जानवर में ऐसा कोई गुण या लक्षण नहीं है जो हमें उसको 'गाय' कहने के लिए विवश करे। हम उसे *पाऊ, *भूना, *टेले, *कोचू या *सूक्लिन' भी कह सकते थे, यदि हमारे साथी हमारे प्रस्ताव को स्वीकार करते। चिड़िया को हम 'खग' ही कहें, यह आवश्यक नहीं है, उसे हम 'पक्षी' भी कह सकते हैं। उसमें स्वतः कोई ऐसा गुण नहीं है, जिसके कारण हमें उसे 'खग' कहना पड़ता हो। वह 'आकाशगामी' है, इसलिए हम उसे खग कहते हैं, यह तर्क भाषा की यादृच्छिकता का खंडन नहीं करता। यदि ऐसा ही है तो हम वायुयान को भी 'खग' कहते होते और अब रूस और अमरीका के अन्तरिक्ष-यात्रियों को भी 'खग' कहना प्रारम्भ कर दिया होता। हम पक्षियों को ही 'खग' इसलिए कहते हैं कि परम्परानुसार हम 'खग' शब्द में इसी अर्थ का ही समावेश करते रहे हैं। यदि 'खग' शब्द का अर्थ 'आकाशगामी' भर होता और उसे प्रत्येक आकाशगामी जीव या वस्तु के लिए प्रयुक्त किया जाता होता तो भी वह अयादृच्छिक न होता। 'ख' को हम आकाश का अर्थ देते हैं, यह भी परम्परा की बात है, वर्ना हम इस शब्द का प्रयोग न करने के लिए भी स्वतन्त्र थे, आकाश के द्योतन के लिए किसी अन्य शब्द का प्रयोग करने के लिए भी स्वतंत्र थे और 'ख' का प्रयोग किसी भी अन्य अर्थ के लिए करने को स्वतंत्र थे। इसी प्रकार 'जानेवाला' को दुनियाँ में 'ग' ही कहा जाय, ऐसी कोई विवशता नहीं है और 'ग' का अर्थ दुनियाँ को 'जानेवाला' ही मानना पड़ेगा, ऐसा भी कोई विधान नहीं है।

भाषा की इस यादृच्छिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है भाषाओं की विविधता। यदि वाक्प्रतीक यादृच्छिक न होकर अनिवार्य होते तो सारा संसार एक ही भाषा बोलता होता। हिन्दी या संस्कृत न जाननेवाले 'वृक्ष' का अर्थ नहीं समझ पाते। अँग्रेजी न जाननेवाले 'ट्री' का अर्थ नहीं जानते। यदि कोई समुदाय चाहे तो वृक्ष या ट्री को किसी और ही शब्द से द्योतित करने लगे। सभी लोग उस नये शब्द का ही प्रयोग प्रारंभ कर दें तो वृक्ष का अर्थ देनेवाला शब्द कोई भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, बौम, आर्बर, देन्द्रोन, क्रैन, देरव, मेंदिस, कुओक्स, अग़ज सरीखा कोई भी शब्द उसी वस्तु के लिए धड़ल्ले के साथ प्रयुक्त हो सकता है, जिसे हम 'वृक्ष' या 'पेड़'

या 'बिरवा' आदि कहते हैं। और ये शब्द काल्पनिक नहीं हैं, इनका प्रयोग सचमुच इसी अर्थ में होता है। जर्मन, लैटिन, ग्रीक, आइरिश, रूसी, लिथुआनियन, लेटिश और तुर्की बोलनेवाले लोग वृक्ष के अर्थ में क्रमशः इन्ही वाक्प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। यह वाक्प्रतीकों की यादृच्छिकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई भी व्यक्ति जिस समय चाहे, किसी भी वस्तु या भाव के लिए किसी भी शब्द का प्रयोग आरंभ कर दे। भाषा एक व्यक्ति की नहीं होती, समाज की होती है और यह यादृच्छिकता भी सम्मिलित रूप से सम्पूर्ण समाज की हो सकती है। यदि केवल दो व्यक्ति किन्हीं नये वाक्प्रतीकों के प्रयोग के लिए सहमत हो जायँ तो उनकी व्यवस्था उन दोनों व्यक्तियों के लिए 'भाषा' होगी। किन्तु अकेला व्यक्ति आकर कुछ का कुछ कहने लगे तो लोग उसे पागल ही समझेंगे।

५. हमारी परिभाषा का अन्तिम अंश यह है कि भाषा के माध्यम से मानव-समुदाय **परस्पर व्यवहार** करता है। इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि परस्पर व्यवहार करने के लिए मानव-समुदाय के पास और कोई साधन है ही नहीं। किसी रास्ता चलते व्यक्ति को देखकर हम दोनों हाथ जोड़ देते हैं और बदले में वह अपना एक हाथ सिर की ओर उठा देता है। हमारा व्यवहार सम्पन हो गया और वाक्प्रतीकों की व्यवस्था की शरण लेने की आवश्यकता हमें नहीं पड़ी। रेलगाड़ी से जाते हुए किसी व्यक्ति को विदाई देते हुए हम रूमाल हिला रहे हैं, बदले में वह भी रूमाल हिला रहा है। यहाँ भी हमारा कार्य वाक्प्रतीकों की व्यवस्था के आश्रय के बिना ही सम्पन्न हो रहा है।

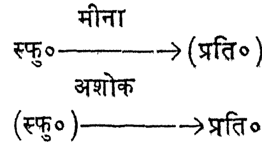
किन्तु इस प्रकार के आचरण हमारे सारे व्यवहार सम्पन्न कराने में समर्थ नहीं हैं। हमें जिन-जिन माध्यमों का सहारा लेना पड़ता है, उनमें भाषा सर्वप्रमुख और सर्वाधिक समर्थ है। भाषा के माध्यम से हम परस्पर व्यवहार करते हैं, इस बात को हम यों भी कह सकते हैं कि भाषा के माध्यम से हम दो चेतामंडलों का अन्तर मिटा देते हैं। इसका अर्थ क्या है ?

मान लीजिए, मीना नामक एक बच्ची को प्यास लगती है। इस सचमुच की प्यास को यदि हम 'स्फुरण' नाम दें तो इस स्फुरण की स्वाभाविक 'प्रतिक्रिया' यह होनी चाहिए कि वह बच्ची दौड़ कर पड़ोस के कुएँ पर जाय और पानी खींचकर पी आए। यहाँ जिस व्यक्ति को सचमुच का स्फुरण हुआ, उसी पर सचमुच की प्रतिक्रिया भी हुई। इस स्थिति में चेतामंडल एक ही रहता है :—

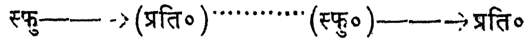
स्फु० ————→ प्रति०

किन्तु मान लीजिए वह बच्ची कुएँ से पानी नहीं खींच सकती। उसके सामने दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि वह अपने बड़े भाई अशोक से कह दे कि उसे प्यास लगी है अर्थात् अपने वास्तविक स्फुरण के बदले में एक वाक्प्रतीकों की

अभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया प्रकट कर दे। मीना की यह मौखिक प्रतिक्रिया अशोक के लिए एक कृत्रिम स्फुरण का कार्य करेगी ; 'कृत्रिम' इसलिए कि उसे स्वयं प्यास नहीं लगी है, 'स्फुरण' इसलिए कि उस पर प्रतिक्रिया होनी है। अशोक कुएँ पर जाता है और पानी खींचकर मीना के लिए ले आता है। वास्तविक स्फुरण मीना को हुआ किन्तु वास्तविक प्रतिक्रिया अशोक पर हुई। दो चेतामंडलों का अन्तर यहाँ समाप्त हो गया :—



और इस प्रकार दो चेतामंडलों के कार्य-स्वरूप मूल स्फुरण के बदले में स्वाभाविक प्रतिक्रिया भी सम्पादित हो गई :—



यह परस्पर व्यवहार करने का एक उदाहरण हुआ।

६. ऊपर हमने कहा है कि भाषा के माध्यम से मानव-समुदाय परस्पर व्यवहार करता है। यहाँ मानव-समुदाय से हमारा तात्पर्य सम्पूर्ण संसार के मानव-समुदाय से है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम जो भाषा बोल रहे हैं, उसके माध्यम से हम संसार में सर्वत्र व्यवहार कर सकते हैं। संभव है जिस देश में हम पहुँचें हैं, वह हमारी भाषा के बजाय कोई दूसरी भाषा बोलता हो। लेकिन इससे न हमारी भाषा अ-भाषा हो जाती है, न उस देश की भाषा अ-भाषा होती है। अन्तर इतना है कि ये दोनों भाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं और ऐसी भिन्न-भिन्न भाषाएँ दुनियाँ में तीन-चार हज़ार हैं। प्रत्येक भाषा के समझनेवाले लोग दुनियाँ में हैं लेकिन ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो दुनियाँ की सब भाषाएँ समझता हो।

ऐसी स्थिति में 'मानव-समुदाय' की महत्तम सीमा न निर्धारित करके लघुतम सीमा निर्धारित करना ही अधिक संगत है। यह लघुतम सीमा है दो व्यक्तियों की। भाषा के लिए कम-से-कम दो व्यक्ति अनिवार्य हैं जो क्रमशः वक्ता और श्रोता का स्थान ग्रहण कर सकें तथा प्रसंगानुकूल वक्ता श्रोता और श्रोता वक्ता बन सके।

तीसरा अध्याय

भाषा का रूप : भाषा की उपव्यवस्थाएँ

१. भाषा एक व्यवस्था है, इस निष्कर्ष पर हम पहुँच चुके हैं। वस्तुतः भाषा के अन्तर्गत अलग-अलग स्तर की, परस्पर संबद्ध किन्तु पृथक्-पृथक्, कई व्यवस्थाएँ होती हैं। इन्हें हम भाषा की उपव्यवस्थाएँ कह सकते हैं। इनमें से तीन केन्द्रीय हैं और दो बाह्य। केन्द्रीय व्यवस्थाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) व्याकरणिक व्यवस्था:—किसी भाषा के मर्षिम इस व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं और उन मर्षिमों का तथा मर्षिमानुक्रमों का संयोजन भी इसी व्यवस्था का विषय है। इस प्रकार मर्षविज्ञान और वाक्यविज्ञान इसके अंग हैं।

(२) स्वानिमिक व्यवस्था:—किसी भाषा के स्वनिम इस व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं और उन स्वनिमों का संयोजन भी इसी व्यवस्था का विषय है।

(३) मर्षस्वानिमिक व्यवस्था:—यह व्याकरणिक तथा स्वानिमिक व्यवस्थाओं को जोड़नेवाली कड़ी है जो मर्षिमों की स्वानिमिक आकृति से संबंध रखती है।

ये केन्द्रीय व्यवस्थाएँ भाषा के स्वरूप से सीधा संबंध रखती हैं। यदि हम व्यक्ति और प्रसंग के महत्त्व को थोड़ी देर के लिए भुला दें और भाषा को एक स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान करें तो ये तीनों व्यवस्थाएँ हमें उसके अवयवों के रूप में दिखाई देंगी और यह स्थिति काल्पनिक नहीं है। यह ठीक है कि किसी भाषा को सीखने के लिए अथवा भाषिक के रूप में उसका विश्लेषण करने के लिए हमें सर्वप्रथम व्यक्ति का आश्रय लेना पड़ता है जो वक्ता और श्रोता का कार्य करता है। उससे हमें वास्तविक भाषण और उच्चारण प्राप्त करना पड़ता है। इसी के आधार पर हम भाषा की क्रियाशील इकाइयों तक पहुँच सकते हैं। दूसरी ओर प्रसंग की उपेक्षा करना भी हमारे लिए असंभव है। भाषा का कार्य है अर्थ व्यक्त करना, विविध प्रसंगों में व्यक्तियों के आचरण का नियमन करना और बाह्य परिस्थितियों के संबंध में कुछ प्रकट करना। इस प्रकार भाषा क्रियाशील है और उसकी इकाइयाँ 'क्रियाशील' हैं, इसकी जाँच करने के लिए हमें बाह्य परिस्थितियों की परीक्षा करनी ही पड़ेगी। भाषा के उच्चरित स्वरूप तथा सांसारिक परिस्थितियों का निरीक्षण करके ही हम भाषा के शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। इसी निरीक्षण के द्वारा हम उपर्युक्त केन्द्रीय व्यवस्थाओं का भावानयन कर पाते हैं जो भाषा-प्रवृत्ति के अपने

विशिष्ट प्ररूपों सहित हमारे मस्तिष्क में प्रतिष्ठित होती हैं; जो व्यक्ति के लिए नहीं, समाज के लिए यथार्थ होती हैं।

२. यही दोनो तत्त्व भाषा की निम्नलिखित दोनों बाह्य व्यवस्थाओं के विषय है :—

(१) स्वनिक व्यवस्था:—यह व्यवस्था स्वनों से सम्बन्ध रखती है। किस प्रकार कोई स्वनिम अथवा स्वनिमों का कोई अनुक्रम किसी वक्ता की उच्चारण-प्रक्रिया द्वारा ध्वनि-तरंगों का रूप ग्रहण करता है और किसी श्रोता द्वारा प्राप्त तथा स्वीकृत किया जाता है, यह इस व्यवस्था का विषय है।

(२) सीमान्तिक व्यवस्था:—यह व्यवस्था मर्षिमों, मर्षिमों के अनुक्रमों तथा मर्षिमो के संयोजनों को वस्तुओं तथा परिस्थितियों से जोड़ती है। इस व्यवस्था का कार्य-क्षेत्र इस भाँति अर्थ-विचार है।

ये दोनों उपव्यवस्थाएँ अन्तःस्थ व्यवस्थाएँ हैं। स्वनिक व्यवस्था एक ओर स्वानिमिक व्यवस्था को छूती है, दूसरी ओर कुछ भौतिक वायु-तरंगों का स्पर्श करती है जो वाक्संकेतों की ऐसी ध्वनि-तरंगें होती हैं जिनका भौतिक रूप से विश्लेषण किया जा सकता है। सीमान्तिक व्यवस्था एक ओर व्याकरणिक व्यवस्था को छूती है क्योंकि व्याकरण अर्थवान् इकाइयों से सम्बन्ध रखता है और दूसरी ओर वह सांसारिक परिस्थितियों तथा वस्तुओं को छूती है, जिन्हें हम सामान्यतः अर्थ कह कर जानते है।

३. यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि 'केन्द्रीयता' अथवा 'बाह्यता' इन उपव्यवस्थाओं के महत्त्व की माप नहीं करती। उपर्युक्त पाँचों व्यवस्थाएँ समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यह अलग बात है कि आकृतिवादी भाषिक सामान्यतः केन्द्रीय उपव्यवस्थाओं के विश्लेषण-वर्णन से ही सतुष्ट हो जाते हैं, बाह्य उपव्यवस्थाओ पर ध्यान नहीं देते। ऐसे विद्वान् भी हुए हैं और है जो केवल बाह्य उपव्यवस्थाओं से संतुष्ट हो गए हैं, केन्द्रीय उपव्यवस्थाओं की ओर आकृष्ट नहीं हुए। यों उल्लेखनीय कार्य की सबसे अधिक कमी सीमान्तिकी में है। इसका एक कारण यह भी है कि कुछ विद्वान् इसे भाषिकी का विवेच्य विषय न मानकर मनोविज्ञान का विषय समझते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कुछ लोग स्वानिकी को शरीरविज्ञान तथा भौतिकी के अन्तर्गत समाविष्ट करते है। इसका एक कारण यह भी है कि इन बाह्य व्यवस्थाओं का विवेचन केन्द्रीय व्यवस्थाओं की अपेक्षा कठिन है।

ऊपर कहा जा चुका है कि भाषा के केन्द्रीय स्वरूप तक पहुँचने में ये बाह्य व्यवस्थाएँ प्रारंभिक सीढ़ियों का काम करती है और अब यह कहा जा रहा है कि ये दोनों व्यवस्थाएँ अपेक्षाकृत कठिन है तथा इन पर सन्तोषजनक कार्य भी कम हुआ है। इन दोनों वक्तव्यों में अन्तर्विरोध-सा प्रतीत होना है किन्तु वस्तुतः ऐसा

नही है। केन्द्रीय उपव्यवस्थाओं तक पहुँचने के लिए बाह्य उपव्यवस्थाओं की सामग्री का साधारण-सा सहारा लेना और इन बाह्य उपव्यवस्थाओं को स्वतंत्र अस्तित्व देकर उनका अपने-आप मे विवेचन-विश्लेषण करना—ये दो भिन्न बाते है। भाषिकी के अन्तर्गत सीमान्तिकी को न रखने के समर्थको का विरोध करते हुए कुछ विद्वान् यह तर्क देते है कि अर्थ-भेदकता की चर्चा स्वानिमी में भी होती है और अर्थवत्ता की चर्चा व्याकरण मे भी होती है, इसलिए अर्थ अपरिहार्य है और इसलिए सीमान्तिकी भाषिकी का अनिवार्य अंग है। उपर्युक्त कथन को ध्यान मे रखने से इस प्रकार के भ्रामक मतों की संभावना नहीं रहेगी। मैं यहाँ इस बात का समर्थन या विरोध नहीं करना चाहता कि सीमान्तिकी भाषिकी का एक अनिवार्य अंग है, मेरा अभिप्राय केवल इतना है कि यदि इस धारणा का समर्थन करना है तो उपर्युक्त तर्क से कार्य न चलेगा, इसके लिए अन्य तर्क खोजने पड़ेंगे। स्वानिमी के लिए हम ऐसा पूछते है कि अमुक उच्चार किसी भाषाभाषी को एक-से सुनाई देते है या परस्पर-भिन्न। किन्तु इतना पूछना उन स्वनों की विस्तृत भौतिक परीक्षा तो नही है। इसी प्रकार मिलते-जुलते अथवा भिन्न उच्चार एक ही अर्थ रखते हैं या नही, यह पूछना अर्थ के विश्लेषण-विवेचन से भिन्न बात है।

४. इन पाँचों उपव्यवस्थाओं पर हम सामान्य ढंग से क्रमश: विचार करेंगे। इनमें बाह्य व्यवस्थाओं को पहले लेने से सुविधा रहेगी (कारण की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है)।

स्वानिकी

५. **स्वानिकी में हम ध्वनियों के भौतिक शरीर की परीक्षा करते हैं।** यहाँ अर्थ से हमारा कोई भी तात्पर्य नहीं होता। यदि हम किसी व्यक्ति को कोई ऐसी भाषा बोलते सुनें जिससे हमारा तनिक भी परिचय नहीं है तो हम भाषा की अन्य व्यवस्थाओं की सामग्री खोज पाएँ चाहे न खोज पाएँ, स्वानिकी की सामग्री हमें सबसे पहले प्राप्त हो जायगी। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित अंशों का उच्चारण कीजिए :—

(क) ओन ज़्येलल दक्लाद ना कन्फ़्येर्येन्त्सिई स्तुद्येन्तफ़ इन्स्तियतूता। व व्रेम्य दक्लादा ओन प्रचिताल स्तुद्येन्तम इन्त्येरेस्निय विप्यिस्कि इज़ रूकप्यीस्येय इ दकुम्येन्तफ़। दक्लाद बिल ओच्येन ख़रोशय।

(ख) म्याँ साना सानी दान। दिकिञा येइ कोञ्कूतेताकू दान। आफय कोञ्जेतेताकू दान। म्याँ दिन दी साना सानी अपना येइ बी कोञ्कूकेन सातेन डोंगोरेन ओलेन।

यदि इन पंक्तियों का अर्थ हमें ज्ञात नहीं है तो हमारे लिए ये ध्वनियों की समूह मात्र है और इस रूप में स्वानिकी के विश्लेषण की सामग्री इनमें विद्यमान है।

किसी गायक के आ·······आ·······आ की परीक्षा भी हम स्वानिकी में कर सकते हैं ; हमें यही विचार करना होगा कि इसमें आरोह-अवरोह किस क्रम से और कितना हो रहा है तथा 'आ' का उच्चारण मुख के किस भाग से जिह्वा और ओठों की कितनी तथा कैसी सक्रियता के साथ हो रहा है। भाषिक अर्थ की उपेक्षा नहीं कर सकता जबकि स्वनज्ञ के लिए अर्थ की उपादेयता नगण्य है।

६. हम जो साँस लेते हैं, यह साँस ही ध्वनि बन जाती है। अधिकांश ध्वनियाँ फेफड़े से बाहर आनेवाली साँस से बनती हैं। मार्ग में आनेवाले अंग इस साँस को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करने के लिए विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ ग्रहण करते है और विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। फलतः बाहर आनेवाली इस साँस को अनेक प्रकार के मार्गों से अनेक प्रकार की बाधाओं का सामना अनेक प्रकार से करते हुए आना पड़ता है। इस प्रकार एक ही साँस अनेक प्रकार की ध्वनियों का रूप ग्रहण कर लेती है। वक्ता अपने वागंगों के द्वारा जो क्रियाएँ इस साँस के ऊपर करता है, उनका विवेचन करते हुए हम ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण कर सकते हैं। उच्चारण के पक्ष से संबंधित होने के कारण यह अध्ययन स्वानिकी की जिस शाखा का निर्माण करता है, उसे **औच्चारिकी** कहते हैं।

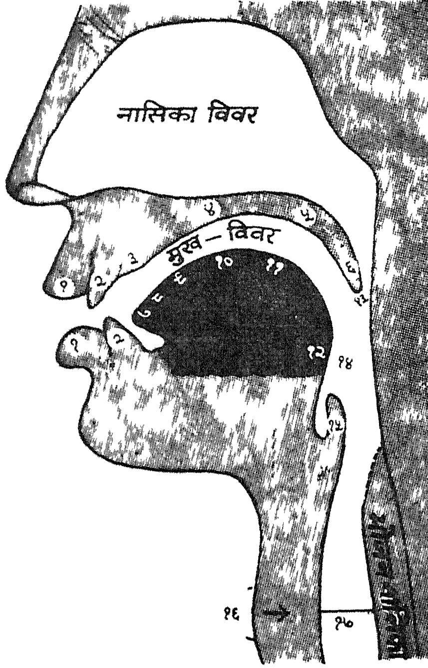
मुख से निःसृत यह ध्वनि-श्वास वायु-मंडल में ध्वनि-तरंगों का रूप ले लेता है। ये ध्वनि-तरंगें वायुमंडल में संचरण करने लगती हैं और श्रोता की ओर बढ़ती हैं। यंत्रों की सहायता से इन संचरण कर रही ध्वनि-तरंगों का भी अध्ययन किया जा सकता है। यह अध्ययन स्वानिकी की **सांचारिकी** नामक शाखा का विषय है।

वायु-मंडल में संचरण कर रही ये तरंगें अन्त में श्रोता के कर्ण-पुटों में प्रवेश करती हैं। कान अपनी विशेष श्रवण-प्रक्रिया द्वारा इन तरंगों को ग्रहण कर लेते हैं। इस श्रवण-पक्ष के आधार पर ध्वनियों का अध्ययन स्वानिकी की **श्रौतिकी** शाखा के अन्तर्गत किया जाता है।

औच्चारिक स्वानिकी, सांचारिक स्वानिकी ओर श्रौत स्वानिकी में से औच्चारिक स्वानिकी का अध्ययन अपेक्षाकृत अधिक हुआ है और संतोषजनक ढंग से हुआ है। इस पुस्तक में **औच्चारिकी** का परिचय कुछ विस्तार से दिया जाएगा।

७. बाहर जानेवाली साँस से ही सारी ध्वनियाँ बनती हों, ऐसी बात नहीं है। कई ध्वनियाँ ऐसी भी होती हैं जिनका निर्माण अन्दर जानेवाली साँस से होता है। लेकिन इन सभी ध्वनियों के निर्माण में मनुष्य-शरीर के कुछ अंग क्रियाशील होते हैं और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ध्वनियों की विभिन्नता के लिए ये अंग भी उत्तरदायी होते हैं। ध्वनियों के उत्पादन में सहयोग देनेवाले इन अंगों का

सामूहिक नाम **वाग्यंत्र** है। नीचे वाग्यत्र का चित्र दिया जा रहा है जिसमे विभिन्न **वागंगों** का निर्देश है।



१.	ओष्ठ	९	जिह्वाग्र
२.	दन्त	१०	जिह्वामध्य
३	बर्स्व	११.	जिह्वापश्च
४	मूर्धा (कठोर तालु)	१२.	जिह्वामूल
५.	उत्कठ (कोमल तालु)	१३.	नासाद्वार
६.	अलिजिह्व	१४.	ग्रसनी
७.	जिह्वानोक	१५	अभिकाकल
८.	जिह्वाफलक	१६.	स्वरयत्र

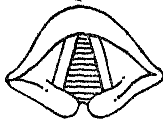
१७. स्वरतत्रियाँ

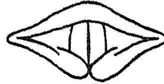
८. वाग्यत्र के इस चित्र मे एक वागग का निर्देश नही है और वह है **फुफ्फुस** अथवा फेफड़ा। हम उल्लेख कर चुके है कि अधिकाश ध्वनियो का निर्माण फेफडो से बाहर आनेवाली वायु के द्वारा होता है। अधिकाश ध्वनियों के उच्चारण

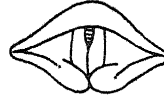
में फेफड़े सक्रियतापूर्वक वायु को बाहर की ओर धकेलते रहते हैं, चुपचाप साँस नहीं निकालते रहते। यह वायु-प्रक्षेप एक विशेष लय में होता है और यही लय हिन्दी, अँगरेजी आदि अनेक भाषाओं में 'वर्णों' का निर्धारण करती है। 'वर्ण' शब्द से हमारा तात्पर्य किसी वर्णमाला के चिह्नों से नहीं है, बल्कि एक स्वनिक इकाई से है जिसके आधार पर पिंगलशास्त्रियों ने 'वर्णवृत्त' निर्धारित किये हैं।

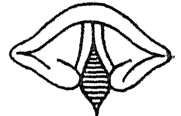
८·१ फेफड़े से चली हुई वायु **स्वरयंत्र** में पहुँचती है। स्वरयंत्र हमारे वाग्यंत्र का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है। कुछ ध्वनियों के निर्माण में समग्र स्वरयत्र को आवश्यकतानुसार ऊपर-नीचे किया जाता है।

स्वरयंत्र में रंगमंच के पर्दों की भाँति दो तंत्रियाँ होती हैं जिन्हें **स्वरतंत्रियाँ** कहा जाता है। ये तंत्रियाँ स्वरयंत्र में आगे से पीछे फैली होती हैं। इनके बीच का अवकाश **काकल** कहा जाता है। ये तंत्रियाँ विभिन्न प्रकार से खुलती और बन्द होती हैं तथा इस प्रकार वायु को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करके ध्वनियों में भेद उत्पन्न करती हैं।


(१) खुली (अघोष)


(२) बन्द


(३) घोष


(४) फुसफुसाहट

पहली स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ दूर-दूर रहती हैं और उनके बीच से निकलती हुई वायु का कोई प्रभाव उनकी स्थिति पर नहीं पड़ता। सारी वायु लगभग निःशब्द-सी गुजर जाती है। इस प्रकार की ध्वनियाँ **अघोष** कही जाती हैं। दूसरी स्थिति में दोनों स्वरतंत्रियाँ परस्पर सट जाती हैं और दृढ़तापूर्वक पल भर जुड़ी रहती हैं। फलस्वरूप वायु का प्रवाह रुक जाता है। इस प्रकार उत्पन्न होनेवाली ध्वनि का नाम **काकल्य स्पर्श** है। हिन्दी-क्षेत्र की पाठशालाओं में जब बच्चे वर्णमाला याद करते हैं और 'अ आ इ ई उ ऊ' आदि बोलते हैं, तब अ, इ, उ के बाद यह ध्वनि सुनाई देती है। तीसरी स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ परस्पर समीप आ जाती हैं और उनके बीच का मार्ग समाप्त-सा हो जाता है। लेकिन स्वर-तंत्रियाँ बहुत दृढ़ता के साथ नहीं जुड़तीं, फलतः वायु अपने निकलने भर का मार्ग बना लेती है। इससे स्वरतंत्रियों में कम्पन होने लगता है। यह कम्पन **घोष** कहा जाता है और जिन ध्वनियों के उच्चारण में यह कम्पन होता है, वे ध्वनियाँ **सघोष** कहलाती हैं। 'ज़्' ध्वनि का कुछ देर तक उच्चारण कीजिए और बीच में कोई स्वर न आने दीजिए। इसका उच्चारण एक निरन्तर ध्वनि के रूप में 'ज़्..........' अथवा 'ज़् ज़् ज़् ज़् ज़्' जैसा होना चाहिए। अपना हाथ गले पर सामने की ओर रखिए, आपको कम्पन का अनुभव होगा। अगर आप दोनों कानों में उँगलियाँ डालकर इस ध्वनि का उच्चारण

करेंगे तो आपको एक प्रकार की गूँज सुनाई देगी ; यह घोष के कारण है। इसके विपरीत 'स्............' अथवा 'स् स् स् स्' का उच्चारण एक निरन्तर ध्वनि के रूप में कीजिए और उपर्युक्त दोनों प्रयोग आजमाइए ; आपको कम्पन और गूँज दोनों ही नहीं मिलेंगे। इसका कारण यह है कि 'ज्' एक सघोष ध्वनि है और 'स्' एक अघोष ध्वनि है। हिन्दी के स्वर सघोष है और व्यंजनों में से कुछ सघोष हैं, कुछ अघोष। घोष की स्थिति में स्वर-तंत्रियों के तनाव में विभेद करने से **सुर** में भेद हो जाता है। गवैये जब बैठकर राग अलापते है तो सुर के चढ़ाव-उतार के करिश्मे देखने में आते है। **जपन** अथवा फुसफुसाहट चौथी स्थिति है जिसका उत्पादन कई प्रकार से किया जाता है। कभी-कभी स्वरतंत्रियो के बीच थोड़ा-सा मार्ग रहता है किन्तु उनके समीप वायु मे स्थानीय विक्षोभ होता है, घोष नही होता। कभी-कभी स्वर-तंत्रियाँ दृढतापूर्वक जुड़ जाती है, किन्तु उनके पीछे दर्वीकास्थियाँ अपने बीच से रास्ता बना देती हैं। अन्य कई प्रकार की जपित ध्वनियों के लिए स्वरतत्रियाँ अन्य कई स्थितियाँ ग्रहण करती है। **भनभनाहट** के उत्पादन में स्वरतत्रियों में कम्पन तो होता है किन्तु साथ ही वायु में स्थानीय विक्षोभ भी होता है।

८·२ **अभिकाकल** का कार्य केवल यह है कि भोजन के समय काकल को बन्द कर दे अर्थात् श्वास-नली मे खाने-पीने की वस्तुएँ न जाने दे ताकि ये वस्तुएँ भोजन की नली में ही जायँ। अधिकतर विद्वानों की धारणा यही है कि ध्वनियों के उच्चारण में इसका कोई योग नहीं है।

८·३ स्वरयंत्र से लेकर नासाद्वार तक फैला हुआ जिह्वामूल के पीछे का विवर **ग्रसनी** कहलाता है। कभी-कभी जिह्वामूल ग्रसनी की पिछली दीवाल से सटकर वायु का प्रवाह रोक देता है जिससे 'ग्रसनी स्पर्श' नामक ध्वनि उत्पन्न होती है। पूर्ण स्पर्श न करके एक संकीर्ण मार्ग छोड़ देने से वायु संघर्षपूर्वक निकलती है, जिसके फलस्वरूप 'ग्रसनी संघर्षी' नामक ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। तीसरी सम्भावना यह है कि ग्रसनी का इतना ही संकोच किया जाय कि उसमें सघर्ष न उत्पन्न हो तथा उच्चारण की प्रक्रिया मुख-विवर में कही अन्यत्र की जाय। इस प्रकार उच्चरित होने वाली ध्वनियाँ 'ग्रसनीकृत' हो जाती है।

८·४ ग्रसनी के ऊपर स्थित नासिका-विवर का प्रवेश-द्वार **नासा-द्वार** कहलाता है। नासा-द्वार या तो खुला रह सकता है या बन्द हो जाता है। खुले रहने पर वायु का प्रवाह ग्रसनी और नासिका-विवर के बीच होता है, बन्द होने पर नहीं होता। नासा-द्वार बन्द हो तो वायु-प्रवाह ग्रसनी और मुख-विवर के बीच होता है। नासा-द्वार खुला रहने पर बोली जानेवाली ध्वनियों में अनुनासिकता आ जाती है। 'नासिक्य व्यंजनों' में ग्रसनी की वायु नासिका-विवर के मार्ग से ही निकलती है। 'सानुनासिक स्वरों' में यह वायु मुख-विवर के साथ-साथ नासिका-विवर से भी

निकलती है । काकल्य स्पर्श और ग्रसनी स्पर्श के उच्चारण में अवश्य ही नासा-द्वार की स्थिति कोई प्रभाव नहीं डालती ।

८·५ जिह्वा वस्तुतः हमारे शरीर का एक ही अंग है ; किन्तु उसकी गति-शीलता और उसके विविध भागों के कार्य-वैविध्य के कारण उसके कई भाग कर लिये जाते हैं और उन्हें विभिन्न वागंगों के रूप में स्वीकार किया जाता है । इनमें से **जिह्वामूल** जिह्वा के पिछले भाग को कहते हैं, जहाँ से जिह्वा का अन्त हो जाता है । जिह्वामूल ग्रसनी की पिछली दीवाल की ओर बढ़ सकता है और उसे छू भी सकता है ।

८·६ **जिह्वापश्च** जीभ का वह भाग है जो उत्कंठ अर्थात् कोमल तालु के नीचे विस्तीर्ण रहता है । यह उत्कंठ की ओर उठ सकता है और उसे छू भी सकता है । इस उन्नयन की मात्रा और पद्धति के अनुसार विविध ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं । जिह्वापश्च का पीछे की ओर का अन्तिम भाग अलिजिह्व से सम्पर्क कर सकता है ।

८·७ जिह्वा का जो भाग मूर्धा अर्थात् कठोर तालु के नीचे विस्तीर्ण रहता है, उसे **जिह्वाग्र** कहते हैं । जिह्वाग्र मूर्धा की ओर उठता है और उसे छू भी सकता है । उन्नयन की मात्रा और पद्धति के अनुसार विविध ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं । आवश्यकता पड़ने पर जिह्वाग्र के उत्तरांश और जिह्वापश्च के पूर्वांश के लिए सम्मिलित रूप से **जिह्वामध्य** शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

८·८ बर्स्व के नीचे विस्तीर्ण जिह्वा का अंश **जिह्वाफलक** कहलाता है । यह ऊपर के दाँतों और बर्स्व से सम्पर्क कर सकता है ।

८·९ जीभ का सबसे आगे रहनेवाला विन्दु **जिह्वानोक** है । दाँतों में फँसे हुए किसी वस्तु के टुकड़े की ख़ोज में यह नोक ही दौड़-धूप करती है । मुँह का जो भाग दर्द करता है, उसे सहलाने भी यही नोक जाती है । जीभ के समस्त भागों में नोक सबसे अधिक गतिशील है । यह दाँतों, बर्स्व और मूर्धा की ओर उठकर अनेक प्रकार की क्रियाएँ करती है और छू भी सकती है, जिससे विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं ।

८·१० जीभ के पीछे की ओर ऊपर से लटकता हुआ मांस का टुकड़ा **अलिजिह्व** है, जिसे बोलचाल में लोग 'कौवा' कहते हैं । यह नासा-द्वार बन्द करने में ऊपर उठकर सहायक होता है, जिह्वापश्च के पिछले भाग से सम्पर्क कर सकता है, उसकी ओर कुछ सीमा तक बढ़कर रुक सकता है ताकि वायु के लिए एक संकीर्ण मार्ग बना रहे और वायु के झटके से कंपन कर सकता है ।

८·११ तालु के भी कई भाग हैं जिन्हें पृथक्-पृथक् वागंगों के रूप में समझा जाता है । अलिजिह्व के आगे का तालु-विभाग जो अँगुली से छूने पर कोमल प्रतीत होता है, कोमल तालु अथवा **उत्कंठ** कहलाता है । यह जिह्वापश्च का कार्य-क्षेत्र है । नासा-द्वार बन्द करने में यह पीछे की ओर हटता है ।

८·१२ उत्कंठ के आगे का कठोर भाग **मूर्धा** अथवा कठोर तालु है । 'मूर्धा'

शब्द का प्रयोग सामान्यतः कठोर तालु के पिछले भाग के लिए अर्थात् मंडलाकार तालु-प्रदेश के शीर्ष-विन्दु के लिए किया जाता है ; किन्तु इस पुस्तक में इस शब्द का प्रयोग समग्र कठोर तालु के लिए हुआ है। यदि तालु-प्रदेश में एक अँगुली रखकर दबायी जाय और उसे इसी रूप में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ले जाया जाय तो पीछे की ओर का भाग कोमल लगेगा और उसमें अँगुली धँसती-सी लगेगी। यह कोमल तालु है। इसके आगे के भाग में अँगुली नहीं धँसेगी और यह भाग कठोर प्रतीत होगा। यही प्रदेश मूर्धा अर्थात् कठोर तालु है। अँगुली के बजाय इन भागों का अनुभव जिह्वानोक से भी किया जा सकता है। मूर्धा जिह्वाग्र तथा जिह्वानोक का कार्य-क्षेत्र है।

८·१३ मूर्धा के और ऊपर के दाँतों के बीच का भाग **बर्स्व** है। अँगुली अथवा जिह्वानोक से छूने पर ऊपर के दाँतों के पीछे उठा हुआ एक खुरदुरा भाग मिलता है। इसी का नाम बर्स्व है। यह जिह्वानोक और जिह्वाफलक का कार्य-क्षेत्र है।

८·१४ दाँतों के लिए **दन्त** शब्द का प्रयोग किया जाता है, किन्तु वास्तव में ध्वनियों के उच्चारण में ऊपर के दाँतों का ही महत्व है और 'दन्त' से हमारा तात्पर्य अधिकतर उन्हीं से होता है। यह जिह्वानोक, जिह्वाफलक और निचले ओठ का कार्य-क्षेत्र है।

८·१५ **ओष्ठ** शब्द का प्रयोग यों तो दोनों ओठों के लिए होता है ; किन्तु इनमें निचला ओठ अधिक सक्रिय होता है। यह ऊपर के ओठ के अतिरिक्त ऊपर के दाँतों से भी सम्पर्क स्थापित करता है। ऊपर का ओठ नीचे के ओठ का कार्य-क्षेत्र है। ऐसी ध्वनियाँ नहीं प्राप्त हुई हैं जिनमें ऊपर का ओठ नीचे के दाँतो अथवा जिह्वानोक के सम्पर्क में आता हो।

९. ध्वनियों का वर्गीकरण सामान्यतः पहले दो भागों में किया जाता है। जिन ध्वनियों के उच्चारण में फेफड़ों से आनेवाली वायु मुख-विवर§ से अबाध रूप से प्रवाहित हो जाती है और वायु-मार्ग में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती, न किसी प्रकार का विक्षोभ उत्पन्न किया जाता है, उन्हें **स्वर** कहते हैं। जिन ध्वनियों के उच्चारण में उक्त लक्षण नहीं होता, उन्हें **व्यंजन** कहा जाता है।

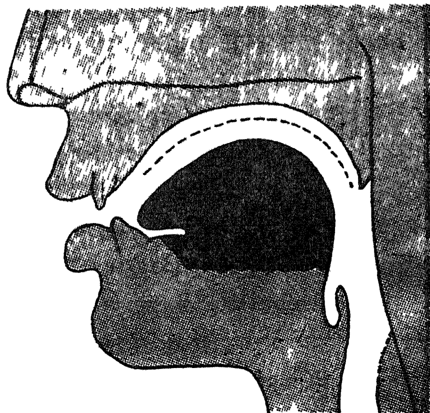
१०. स्वर नासा-द्वार की स्थिति के अनुसार निरनुनासिक और सानुनासिक होते है तथा स्वरतंत्रियों की स्थिति के अनुसार सघोष और अघोष होते हैं। सामान्यतः निरनुनासिक और सघोष स्वरों का ही प्राधान्य माना जाता है, इसलिए यदि किन्हीं

---

§ स्वरों के लिए वायु का मुख-विवर से प्रवाहित होना आवश्यक है। यदि नासा-द्वार बन्द है तो सारी वायु मुख-विवर से गुजरेगी और **निरनुनासिक स्वर** उत्पन्न होंगे। यदि नासा-द्वार खुला है तो कुछ वायु नासिका-विवर से भी गुजरेगी और **सानुनासिक स्वर** उत्पन्न होंगे। यदि मुख-विवर में अवरोध हो जाय किन्तु नासिका-विवर से वायु का निर्बाध प्रवाह हो तो इस प्रकार उत्पन्न ध्वनियाँ व्यंजन कही जायँगी, स्वर नहीं।

स्वरों में ये दोनों गुण हों तो इन गुणों का उल्लेख उन स्वरों के वर्णन में प्राय: नहीं किया जाता। किन्तु यदि स्वर सानुनासिक और/अथवा अघोष हों तो इन बातों का उल्लेख उन स्वरों के वर्णन में कर दिया जाता है।

१०·१ ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि स्वरों के उच्चारण में वायु को मुख-विवर से निर्बाध रूप से निकलना चाहिए। मुख-विवर के अन्तर्गत जिह्वा ऊपर उठ तो सकती है, किन्तु केवल एक सीमा तक। यदि इस सीमा से जिह्वा तनिक भी ऊपर उठ जाती है तो मार्ग इतना संकीर्ण हो जाता है कि प्रवाहित हो रही वायु में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। अतएव स्वरों के उच्चारण में जिह्वा अधिक-से-अधिक उक्त सीमा तक ऊपर उठाई जा सकती है। मनुष्य के मुख-विवर में इस प्रकार की कोई भौतिक रेखा नहीं खिची हुई है, जिसे **स्वर-सीमा** कहा जा सके, इस अर्थ में यह स्वर-सीमा काल्पनिक है। किन्तु कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता कि वह जिह्वा को जितना ऊपर चाहे, उठा ले जाय और स्वर का उच्चारण कर ले। एक ऐसी सीमा आती है जिसके ऊपर जिह्वा को ले जाकर स्वर का उच्चारण करना संभव नहीं है और इस अर्थ में यह स्वर-सीमा यथार्थ तथा वास्तविक है। चित्र में स्वर-सीमा देखें



१०·२ स्वरों के वर्गीकरण के मुख्य आधार निम्नलिखित हैं :—

(अ) जिह्वा के उन्नयन की मात्रा।

(ब) जिह्वा का उन्नत होने वाला भाग।

(स) ओष्ठों की स्थिति।

स्वरों के उच्चारण में जिह्वा जिस निम्नतम स्थिति में रह सकती है और जिस उच्चतम स्थिति (स्वर-सीमा) तक उठ सकती है, उसके बीच यदि जिह्वा विन्दु-विन्दु करके ऊपर उठाई जाय तो अगणित स्थितियाँ हो सकती हैं और वास्तव में ये सभी स्थितियाँ भौतिक दृष्टि से यथार्थ भी हैं ; किन्तु मनुष्य के लिए इन सारी स्थितियों में भेद कर पाना संभव नहीं है। पास-पास के अनेक विन्दुओं पर बोले जाने वाले अनेक स्वर हमें पूर्णत: एक-जैसे प्रतीत होते हैं और उन्हें हम एक ही स्वर समझ कर बोलते तथा सुनते हैं। इसलिए जिह्वा के निम्नतम और स्वरार्थ उच्चतम विन्दुओं के बीच के स्थान को थोड़े-से भागों में विभक्त कर लिया जाता है। ये भाग बराबर-बराबर होते हैं। एक भाग के किसी भी विन्दु से उच्चरित होनेवाले स्वर को एक ही स्वर माना जाता है और ऐसे सभी उच्चारणों के लिए एक ही लिपि-चिह्न का प्रयोग

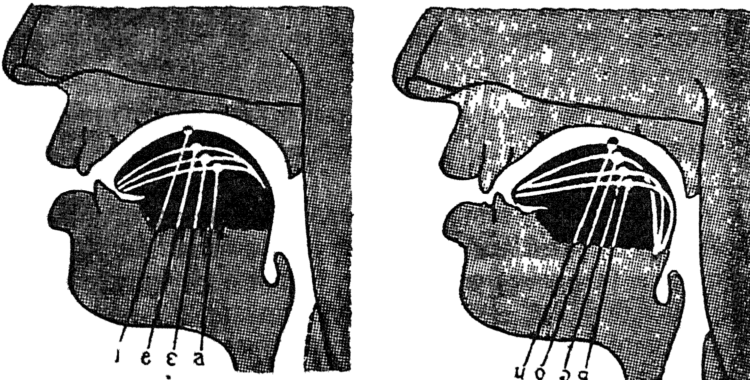
किया जाता है। स्वर-सीमा की भाँति ये भाग भी काल्पनिक हैं; इसलिए दो समीपस्थ भागों की सीमा-रेखा के आस-पास पाये जानेवाले स्वरों के लिए भी दो लिपि-चिह्नों के बजाय एक ही लिपि-चिह्न का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में इन भागों की सीमाएँ बहुत स्थिर नही हैं। किसी भाषा में पाये जाने वाले स्वरों की संख्या और उनकी प्रकृति के अनुसार लिपि-चिह्नों के प्रयोग का तथा कई उच्चारणों को एक या अनेक स्वरों के रूप में सुनने का निश्चय होता है।

इस दशा मे कुछ निश्चित विन्दुओं के स्वरों को निश्चित मूल्य प्रदान करके तुलना करते हुए किसी भी भाषा के स्वरों के वर्णन में सुगमता होती है।

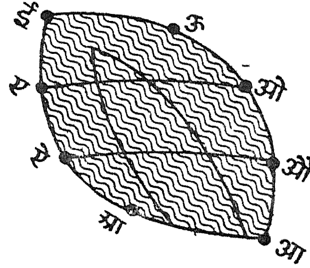
उन्नयन की मात्रा की भाँति ही जिह्वा के उठनेवाले भागों में भी पर्याप्त विविधता होती है और भौतिक दृष्टि से यह विविधता भी यथार्थ होती है। लेकिन इन सारी विविधताओं को न वक्ता समझ पाता है, न श्रोता। इसलिए इस दिशा में भी कुछ निश्चित अंशों को निश्चित मूल्य देकर उनसे तुलना करते हुए किसी भाषा के स्वरों का वर्णन सुगमतापूर्वक किया जा सकता है।

यही बात ओठों की स्थिति पर भी लागू होती है। ओठो की अधिकतम गोलाई से लेकर उनकी उदासीनता तक और उदासीनता से अधिकतम विस्तार तक विन्दु-विन्दु चलने पर अनेक स्थितियाँ प्राप्त होती हैं। ये स्थितियाँ भी भौतिक दृष्टि से यथार्थ हैं ; किन्तु वक्ता और श्रोता इनके सारे भेदो को नहीं समझ पाते। इस क्षेत्र में भी कुछ निश्चित स्थितियों को निश्चित मूल्य दे देना अच्छा होता है।

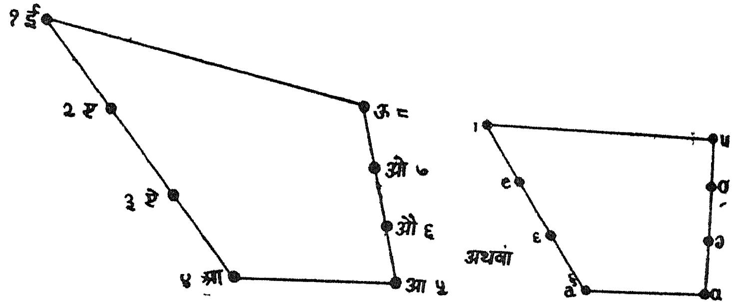
१०·३ इन सारी बातों का ध्यान रखते हुए कुछ स्वर निश्चित किये गये हैं जिन्हें **मानस्वर** कहा जाता है। ये मानस्वर किसी भाषा से लिये नही गये है बल्कि निर्धारित किये गये हैं और सारी भाषाओं के वर्णन में ये पैमानों का काम देते हैं। इन्हें मानदण्ड बनाकर हम किसी भी स्वर की उच्चारण-स्थिति का वर्णन कर सकते हैं। निम्न चित्र में ये विन्दु और विभाग देखे जा सकते हैं।



इनका स्वरूप कुछ इस प्रकार बनता है (बीच की रेखाएँ सरलता के लिए सीधी खींची गई हैं) :—



सुविधा के लिए इसे निम्न प्रकार का रूप दिया जाता है, जिसे हम **स्वर-चतुष्कोण** कह सकते है ।



१०·४ इस चतुष्कोण में जिह्वा के उन्नयन की चार मात्राएँ स्वीकार की गई हैं अर्थात् उसकी ऊँचाई की चार स्थितियाँ दिखाई गई हैं । स्वर-सीमा को छूने वाली उच्चतम स्थिति **संवार** की स्थिति है और निम्नतम स्थिति **विवार** की स्थिति है । संवार के नीचे वाली स्थिति **अर्धसंवार** है और विवार के ऊपर वाली स्थिति **अर्धविवार** है । इस प्रकार ई–ऊ **संवृत**, ए–ओ **अर्धसंवृत**, ऐ–औ **अर्धविवृत** तथा अ-आ **विवृत** स्वर हैं ।

१०·५ चूंकि ई–ए–ऐ–अ के उच्चारण में जिह्वा का अग्र भाग सक्रिय होता है, इसलिए इन्हें **अग्र** स्वर कहा जाता है । इसी प्रकार ऊ–ओ–औ–आ के उच्चारण में

§ अन्तरराष्ट्रीय ध्वनि-परिषद् (IPA) आवश्यकतानुसार नियमों तथा लिपि-चिह्नों में संशोधन करती रहती है । परिषद् को एक सुझाव दिया गया है कि a के स्थान पर æ चिह्न का प्रयोग किया जाय (ग्लीसन ने इसे स्वीकार कर लिया है) और जिस ध्वनि के लिए æ चिह्न का प्रयोग किया जाता है, उसके लिए एक अन्य चिह्न का प्रयोग किया जाय । परिषद् ने इस प्रस्ताव का उल्लेख-मात्र कर दिया है ; इसे अपनी स्वीकृति नही प्रदान की है ।

जिह्वा का पश्च भाग सक्रिय होता है और इस कारण इन स्वरों को **पश्च** स्वर कहा जाता है।

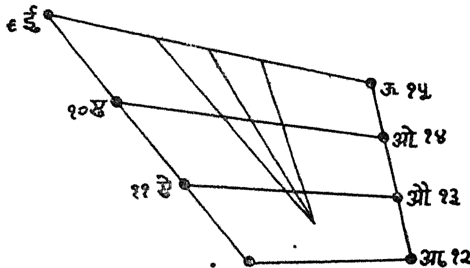
१०·६ ओठों की स्थिति स्वरों के उच्चारण में एक-जैसी नहीं होती। उदाहरणार्थ, ई के उच्चारण में ओठ फैले रहते हैं, ऊ के उच्चारण में वे गोल हो जाते हैं और आ के उच्चारण में वे उदासीन रहते हैं। मोटे तौर पर ये तीन स्थितियाँ स्पष्ट रूप से अनुभव की जा सकती हैं। किन्तु इन तीनों स्थितियों को स्वीकार करना भी आवश्यक नहीं समझा गया है और केवल दो स्थितियों का भेद पर्याप्त माना गया है। जिस स्थिति में ओठ गोल होकर आगे की ओर बढ़ते हैं, उसे **गोलन** कहते हैं। ओठों के फैलने की और उनकी उदासीनता की स्थितियाँ एक ही स्थिति की मान ली गई हैं जिसे **अगोलन** कहा जाता है। गोलन की स्थिति में उत्पन्न स्वर **गोलित** और अगोलन की स्थिति में उत्पन्न स्वर **अगोलित** कहे जाते हैं।

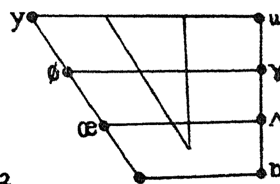
१०·७ यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इन लिपि-चिह्नों का प्रयोग यहाँ हिन्दी स्वरों के लिए नहीं हुआ है। जिन ध्वनियों के लिए इन चिह्नों का प्रयोग हुआ है, उनका उच्चारण किसी प्रशिक्षित अध्यापक से सीखना चाहिए।

१०·८ इन स्वरों का नामोल्लेख (संक्षिप्त वर्णन) इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) संवृत, अग्र, अगोलित।
(२) अर्धसंवृत, अग्र, अगोलित।
(३) अर्धविवृत, अग्र, अगोलित।
(४) विवृत, अग्र, अगोलित।
(५) विवृत, पश्च, अगोलित।
(६) अर्धविवृत, पश्च, गोलित।
(७) अर्धसंवृत, पश्च, गोलित।
(८) संवृत, पश्च, गोलित।

१०·९ उक्त मानस्वरों के अतिरिक्त ओठों की स्थिति के भेद के कारण सात अन्य **गौण मानस्वर** निर्धारित किये गये हैं, जिनमें जिह्वा की स्थिति वही रहती है।





१०·१० इन स्वरों का शुद्ध उच्चारण किसी प्रशिक्षित अध्यापक से सीखना चाहिए ; किन्तु इनका नामोल्लेख (संक्षिप्त वर्णन) इस प्रकार किया जा सकता है :—

(९) संवृत, अग्र, गोलित ।
(१०) अर्धसंवृत, अग्र, गोलित ।
(११) अर्धविवृत, अग्र, गोलित ।§
(१२) विवृत, पश्च, गोलित ।
(१३) अर्धविवृत, पश्च, अगोलित ।
(१४) अर्धसंवृत, पश्च, अगोलित ।
(१५) संवृत, पश्च, अगोलित ।

१०·११ उक्त स्वर जिह्वा की अग्र और पश्च स्थितियों से उच्चरित होते हैं। जिह्वा के केन्द्रीय भाग से उच्चरित होने वाले स्वरों में से भी कुछ को गौण मानस्वर निर्धारित किया जा सकता है। ये स्वर **केन्द्रीय** स्वर कहे जाते हैं।†

उक्त स्वर-चतुष्कोण के बीच में जो त्रिकोण बना हुआ है, यह जिह्वा का केन्द्रीय भाग है। इससे उच्चरित होने वाले तीन स्वर निम्नलिखित हैं—

ई [ɨ] संवृत, केन्द्रीय, अगोलित।
ऊ [ʉ] संवृत, केन्द्रीय गोलित।
अ [ə] उदासीन स्वर।

१०·१२ उपर्युक्त सभी स्वरों के उच्चारण में जिह्वा आदि से अन्त तक एक स्थिति में रहती है। इस प्रकार उच्चरित स्वरों को **मूलस्वर** कहा जाता है। कुछ स्वरों के उच्चारण में जिह्वा स्थिर नहीं रहती ; एक स्वर की स्थिति में जाते ही दूसरे स्वर की स्थिति की ओर बढ़ जाती है। यह क्रिया एक ही झटके में होती है और उच्चरित ध्वनि एक ही वर्ण‡ का निर्माण करती है। इस प्रकार उच्चरित स्वर **द्विस्वर** कहे जाते हैं। द्विस्वरों को दो मूल स्वरों का अनुक्रम नहीं समझना चाहिए क्योंकि द्विस्वरों का एक अंश दूसरे की अपेक्षा कम मुखर और गौण होता है जिसे इसी कारण **व्यंजनात्मक स्वर** कहा जाता है।

१०·१३ हिन्दी के "दैनिक-भैया' तथा 'कौन-कौवा' शब्दों के पहले स्वर

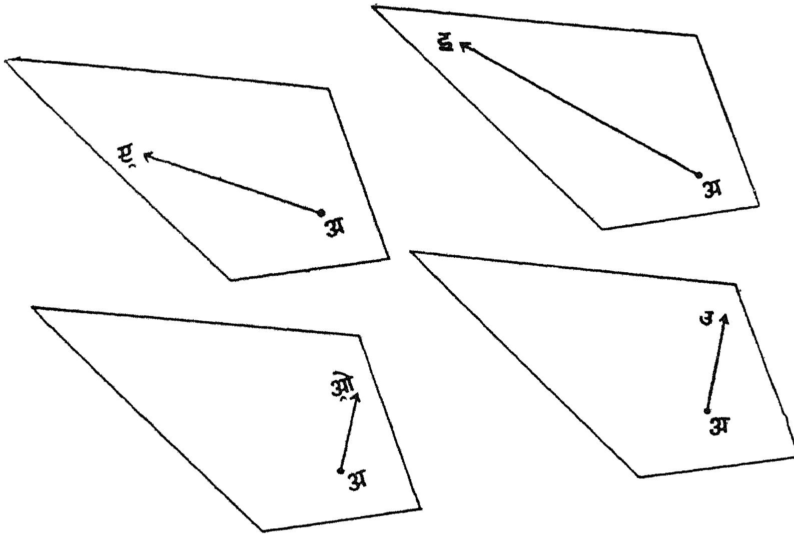
---

§ विवृत, अग्र, गोलित के लिए कोई लिपि-चिह्न नहीं दिया गया है क्योंकि संसार की किसी भाषा में अर्धविवृत-अग्र-गोलित तथा विवृत-अग्र-गोलित में कार्य-भेद नहीं पाया गया है। ये एक ही ध्वनि के रूप में प्रयुक्त होती हैं।

† ये मध्य स्वर नहीं हैं। मध्य स्वर कौन होते हैं, इस बात का उल्लेख इस पुस्तक में नहीं किया जायगा।

‡ वर्ण का विवेचन आगे होगा।

द्विस्वर है। कुछ ही हिन्दीभाषी दोनों युग्मों के प्रथम शब्दों के पहले स्वरों का उच्चारण मूल स्वरों के रूप मे करते है। अधिकांश लोगों के उच्चारण में ये युग्म चार द्विस्वर प्रस्तुत करते है। पहले युग्म का प्रथम स्वर 'ऐ' के रूप में लिखा जाता है; किन्तु इन शब्दो में इसका उच्चारण भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। 'दैनिक' शब्द की 'ऐ' ध्वनि 'अ' से आरभ होकर 'ए़' की ओर जाती है और 'भैया' में वह 'अ' से 'इ' की ओर जाती है। दूसरे युग्म मे भी कुछ ऐसा ही स्थिति है। जिसे हम नागरी में 'औ' लिखते है, वह वस्तुतः दो ध्वनियो का प्रतिनिधि है। 'कौन' में 'अ' से 'ओ़' की ओर जानेवाला द्विस्वर है तथा 'कौवा' में 'अ' से 'उ' की ओर जानेवाला। इन चारों द्विस्वरो को हम क्रमशः अए़, अइ, अओ़ तथा अउ लिख सकते है। स्वर-चतुष्कोण में इन्हे इस प्रकार दिखाया जा सकता है:—



११. व्यंजन-ध्वनियों का वर्गीकरण स्वरों की भाँति नही होता। इनके वर्गीकरण में उच्चारण के स्थान और प्रयत्न को आधार बनाया जाता है। **प्रवाहित हो रही वायु जिस स्थान पर प्रभावित की जाती है, उसे स्थान कहते हैं।** स्थान के अनुसार व्यंजनों के निम्नलिखित भेद किये जा सकते है:—

(क) **द्वयोष्ठ्य**—जिन व्यंजनों का उच्चारण दोनो ओठो की सहायता से हो।

(ख) **दन्तोष्ठ्य**—जिनके उच्चारण में नीचे का ओठ ऊपर के दाँतो से सहयोग करे।

(ग) **दन्त्य**—जिनका उच्चारण जिह्वानोक और ऊपर के दाँतों से हो।

(घ) **बर्स्व्य**—जो बर्स्व तथा जिह्वानोक (या जिह्वाफलक) के सम्पर्क§ से उच्चरित हों।

(ङ) **मूर्धन्य**—जिनके उच्चारण में जिह्वा की नोक उत्कुंचित होकर मूर्धा से सम्पर्क करे।

(च) **तालुबर्स्व्य**—जिनके उच्चारण में जिह्वाग्र तालु की ओर उठे तथा जिह्वाफलक बर्स्व के सम्पर्क में आए।

(छ) **बर्स्वतालव्य**—जिनके उच्चारण में जिह्वाफलक बर्स्व के सम्पर्क में आए और जिह्वाग्र का पूर्व भाग तालु की ओर उठे। बर्स्वतालव्य ध्वनियों में बर्स्व्यता प्रमुख होती है और तालुबर्स्व्य में तालव्यता।

(ज) **तालव्य**—जिनके उच्चारण में जिह्वाग्र मूर्धा के सम्पर्क में आए।

(झ) **उत्कंठ्य**—जिनका उच्चारण उत्कंठ-जिह्वापश्च से हो।

(ञ) **अलिजिह्वीय**—जिनके उच्चारण में अलिजिह्व का सम्पर्क जिह्वापश्च के पिछले भाग से हो।

(ट) **ग्रसनीय**—जिनका उच्चारण ग्रसनी में हो।

(ठ) **काकल्य**—जो काकल में उच्चारित हों।

११·१ **उच्चारण करने वाले अंग प्रवाहित हो रही वायु को जिस प्रकार प्रभावित करते हैं, उसे प्रयत्न कहा जाता है।** प्रयत्न के अनुसार व्यंजनों को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है :—

(क) **स्पर्श**—वायु-मार्ग का पल भर के लिए पूर्णतः अवरोध हो जाता है और फिर सहसा उसका उन्मोच होता है।†

(ख) **नासिक्य**—वायु-मार्ग मुख-विवर में पूर्णतः अवरुद्ध हो जाता है ; किन्तु उत्कंठ नीचे झुका रहता है। फलस्वरूप नासाद्वार खुला रहता है और वायु नासिका-मार्ग से निकलती रहती है।

(ग) **पार्श्विक संघर्षी**—वायु-मार्ग के केन्द्रीय भाग में कोई अवरोध आ जाता है किन्तु उस अवरोध के एक या दोनों ओर संकीर्ण-सा मार्ग बना रहता है जिससे वायु संघर्ष करती हुई निकलती है।

(घ) **पार्श्विक**—वायु-मार्ग के बीच में एक अवरोध प्रस्तुत हो जाता है

---

§ यहाँ 'सम्पर्क' का तात्पर्य है छूना या निकट आना। इसी प्रकार आगे भी इसका अर्थ लगाना चाहिए।

† यदि यह उन्मोच सहसा न होकर शनैः शनैः हो तो उन्मोच के समय वायु-मार्ग में संघर्ष होता है। स्पर्श और संघर्षमय उन्मोच वाली इन ध्वनियों को स्पर्श के बजाय **स्पर्घर्ष** कहा जाता है।

किन्तु उस अवरोध के एक या दोनों ओर से वायु निर्बाध निकलती रहती है। संघर्ष नहीं होता।

(ङ) लुंठित—कोई वागंग अनेक क्षिप्र आघात करता है।

(च) उत्क्षिप्त—कोई वागंग एक क्षिप्र और दूरगामी आघात करता है।

(छ) संघर्षी—वायु-मार्ग इतना संकीर्ण कर दिया जाता है कि निकलने वाली वायु में संघर्ष होने लगता है।

(ज) **संघर्षहीन प्रवाही**—वायु-मार्ग की स्थिति संघर्षी व्यंजनों वाली ही होती है लेकिन वायु का निर्गमन क्षीण शक्ति से होता है, फलतः संघर्ष नहीं होता।

(झ) **अर्धस्वर**—एक ऐसी सघोष श्रुति जिसमें वागंग एक क्षीण स्वर के उच्चारण की स्थिति से तुरन्त ही समान या अधिक शक्ति वाले स्वर की स्थिति में पहुँचते हैं।

११·२ उक्त व्यंजनों में स्वरतंत्रियों की स्थिति एक तीसरे और व्यापक वर्गीकरण का आधार प्रदान करती है। जिन व्यंजनों के उच्चारण के समय स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है, उन्हें **सघोष** तथा जिनके उच्चारण के समय स्वरतंत्रियों में कम्पन नहीं होता, उन्हें **अघोष** कहा जाता है।

११·३ सामान्यतः स्पर्शों तथा स्पघर्षों का§ कभी-कभी एक चौथा वर्गीकरण भी किया जाता है और वह है **अल्पप्राण** तथा **महाप्राण** का। उन्मोच के साथ यदि अपेक्षाकृत अधिक वायु बाहर फेंकी जाती है तो महाप्राण ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं। यदि यह वायु कम हो और कम शक्ति से फेंकी जाय तो अल्पप्राण ध्वनियाँ बनती हैं।

११·४ व्यंजनों के वर्गीकरण के आधार इतने ही नहीं हैं; किन्तु प्रमुख रूप से इतने आधारों को समझ लेना यहाँ पर्याप्त होगा।

आगे की तालिकाओं के व्यंजनों में से प्रत्येक युग्म का पहला व्यंजन अघोष और दूसरा सघोष है। जिस खाने में केवल एक व्यंजन है, वह सघोष के लिए है। केवल काकल्य स्पर्श एक अपवाद है क्योंकि उसकी उच्चारण-प्रक्रिया सघोष-अघोष दोनों से भिन्न है (पीछे स्वरतंत्रियों की विभिन्न स्थितियों का वर्णन देखिए)।

११·५ प्रत्येक व्यंजन के उच्चारण की विधि का वर्णन करना हो तो घोष, प्राण, स्थान और प्रयत्न का वर्णन करना चाहिए। उदाहरणार्थ—

ख्—इस व्यंजन के उच्चारण में जिह्वापश्च उत्कंठ का स्पर्श करता है जिससे वायु निमिष भर के लिए अवरुद्ध हो जाती है। फिर शीघ्रता के साथ उन्मोच होता है और फुफ्फुस शक्ति लगाकर अपेक्षाकृत अधिक वायु फेंकता है। इस प्रक्रिया के बीच स्वरतंत्रियों में कम्पन नहीं होता।

---

§ कभी-कभी कुछ अन्य व्यंजन भी इस वर्गीकरण में रखे जाते हैं।

अन्तरराष्ट्रीय स्वनलिपि
THE INTERNATIONAL PHONETIC ALPHABET.
(Revised to 1951.)

		BI LABIAL	LABIO DENTAL	DENTAL AND ALVEOLAR	RETROFLEX	PALATO ALVEOLAR	ALVEOLO-PALATAL	PALATAL	VELAR	UVULAR	PHARYNGAL	GLOTTAL
CONSONANTS	PLOSIVE	p b		t d	ʈ ɖ			c ɟ	k g	q ɢ		ʔ
	NASAL	m	ɱ	n	ɳ			ɲ	ŋ	ɴ		
	LATERAL FRICATIVE			ɬ ɮ								
	LATERAL NON-FRICATIVE			l	ɭ			ʎ				
	ROLLED			r						ʀ		
	FLAPPED			ɾ	ɽ					ʀ		
	FRICATIVE	ɸ β	f v	θ ð s z ɹ	ʂ ʐ	ʃ ʒ	ɕ ʑ	ç j	x ɣ	χ ʁ	ħ ʕ	h ɦ
	FRICTIONLESS CONTINUANTS AND SEMI VOWELS	w ɥ	ʋ	ɹ				j (ɥ)	(w)	ʁ		
VOWELS								FRONT CENTRAL	BACK			
	CLOSE	(y ʉ u)						i y ɨ ʉ	ɯ u			
	HALF CLOSE	(ø o)						e ø [illegible]	ə ɤ o			
	HALF OPEN	(œ ɔ)						ɛ œ æ	ɐ ʌ ɔ			
	OPEN	(ɒ)						a	ɑ ɒ			

(Secondary articulations are shown by symbols in brackets.)

हिन्दी स्वनलिपि

		द्वयोष्ठ्य	दन्तोष्ठ्य	दन्त्य और वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालुवर्त्स्य	वर्त्स्यतालव्य	तालव्य	उत्कंठ्य	अलिजिह्वीय	ग्रसनीय	काकल्य
व्यंजन	स्पर्श	प् ब्		त् द्	ट् ड्			क् ग्	क् ग्	क् ग्		?
	नासिका	म्	म्	न्	ण्			ञ्	ङ्	ङ्		
	पार्श्विक संघर्षी			ल् ल्								
	पार्श्विक			ल्	ळ्			ल्				
	लुठित			र्						र्		
	उत्क्षिप्त			ट्	ड़्					ट्		
	संघर्षी	प् ब्	फ् व्	थ् द् | स् ज् | र्	ष् ज्	श् झ्	श् झ्	फ् य्	ख् घ्	ख् घ्	ह ९	ह् ह्
	संघर्षहीन प्रवाही तथा अर्धस्वर	ह् | ह्	व्	र्				य् (ह्)	(ह्)	घ्		
स्वर	संवृत	(ई ऊ ऊ)						अग्र ई ई — केन्द्रीय ई ऊ	पश्च ऊ ऊ			
	अर्धसंवृत	(ए ओ)						ए ए — अ	ओ ओ			
	अर्धविवृत	(ऐ औ)						ऐ ऐ — ऐ	औ औ — आ			
	विवृत	(आ)						आ	आ आ			

ल्—इस व्यंजन के उच्चारण में जिह्वानोक बर्स्व का स्पर्श करती है और वायु-मार्ग के बीचोंबीच बाधा बनकर अड़ जाती है। किन्तु उसके एक या दोनों ओर से वायु का निर्गमन होता रहता है। इस प्रक्रिया के समय स्वरतंत्रियों में कम्पन होता रहता है।

११·६. किन्तु सामान्यतः उक्त बातों का द्योतन करने वाले पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग-मात्र ध्वनियों के नामोल्लेख के रूप में पर्याप्त होता है। उदाहरणार्थ :—

ख्—अघोष महाप्राण उत्कंठ्य स्पर्श।

ल्—सघोष बर्स्व्य पार्श्विक।

१२. अब तक हमने ध्वनियों पर विचार किया है। कुछ तत्व ऐसे होते हैं जो ध्वनियों के साथ रहते हैं, ध्वनियों से अलग नहीं किये जा सकते लेकिन वे अपने आप में 'ध्वनियाँ' नहीं होते। इन्हें **ध्वनिगुण** कहा जाता है। ध्वनिगुण तीन होते हैं—मात्रा, बल और सुर।

१२·१ किसी ध्वनि के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे हम उस ध्वनि की कालमात्रा या **मात्रा** कहते हैं। यदि हम कोई ध्वनि १/२ सेकण्ड में बोल सकते हैं तो उस ध्वनि की मात्रा १/२ सेकण्ड है। यदि कोई ध्वनि अपने उच्चारण के लिए १/४ सेकण्ड लेती है तो उस ध्वनि की मात्रा १/४ सेकण्ड है। समय के छोटे-से-छोटे भाग का अन्तर ध्यान में रक्खें तो मात्रा की अगणित कोटियाँ निर्धारित करनी पड़ेंगी। वास्तव में हमें किसी भाषा में कुछ ही मात्राओं का भेद स्वीकार करना होता है क्योंकि किसी ध्वनि के दो उच्चारणों में होने वाला अल्प भेद भाषा में उपेक्षणीय होता है। इसलिए एक निश्चित सीमा तक की सभी कालमात्राओं को हम एक ही मात्रा मानते हैं। उस सीमा के बाद फिर एक निश्चित सीमा तक की सारी कालमात्राएँ एक दूसरी मात्रा के रूप में स्वीकार की जाती हैं। इस प्रकार संस्कृत के स्वनज्ञों ने संस्कृत के स्वरों के लिए तीन मात्राओं का वर्गीकरण पर्याप्त समझा है और उन्हें ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत की संज्ञा दी है। सामान्यतः ऐसा समझा जाता है कि दीर्घ स्वर के उच्चारण में ह्रस्व स्वर के उच्चारण की अपेक्षा दूना समय लगता है और प्लुत स्वर के उच्चारण में तिगुनी कालमात्रा लगती है। वास्तव में यह पूर्णतः सत्य नहीं है। हम केवल इतना कह सकते हैं कि ये कालमात्रा के विभाग हैं जो क्रमशः अधिक होते गये हैं।

हिन्दी में भी स्वरों की दो मात्राएँ मिलती हैं जिन्हें हम ह्रस्व और दीर्घ कह सकते हैं। प्लुत के भी कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं (उदाहरणार्थ, किसी का नाम लेकर पुकारते समय) लेकिन भाषा में उनका उल्लेखनीय स्थान नहीं है। मात्रा-भेद से शब्द-भेद के प्रचुर उदाहरण हिन्दी में हैं। जैसे:—

कला — काला
रम — राम

किला	—	कीला
दिन	—	दीन
कुल	—	कूल
बुरा	—	बूरा

१२·२ वास्तव में मात्रा स्वरों में ही नहीं, व्यंजनों में भी होती है। हिन्दी में तो व्यंजनों में कालमात्रा का भेद अधिक उल्लेखनीय है क्योंकि मात्रा-भेद वाले व्यंजनों में केवल मात्रा का ही भेद होता है जबकि स्वरों में मात्रा-भेद के साथ-साथ लक्षण (उच्चारण-स्थान आदि)-भेद भी विद्यमान रहता है। ह्रस्व मात्रा वाले व्यंजन के उच्चारण में जितना समय लगता है, दीर्घ मात्रा वाले व्यंजन के उच्चारण में उसके दूने के लगभग समय की आवश्यकता होती है। लिखने में दीर्घ व्यंजनों के लिए लिपिचिह्न-द्वित्व के प्रयोग की परम्परा है। कुछ उदाहरण निम्न-लिखित हैं—

पका	—	पक्का
सजा	—	सज्जा
धनी	—	धन्नी
बली	—	बल्ली
बटी	—	बट्टी
लसी	—	लस्सी

१२·३ किसी अनुक्रम में किसी ध्वनि पर व्यय की जाने वाली शक्ति **बल** कहलाती है। बल की भी अनेक कोटियाँ हो सकती हैं, किन्तु कोई भाषा बल की कुछ ही कोटियों का महत्त्व स्वीकार करती है। एक निश्चित सीमा तक बल की सारी स्थितियों को एक कोटि के रूप में स्वीकार किया जाता है और उससे आगे एक दूसरी सीमा तक की सारी संभावनाएँ दूसरी कोटि के अन्तर्गत आती हैं। हिन्दी में बल की एक ही कोटि स्वीकार करना पर्याप्त है। शब्द की जिस ध्वनि में यह बल है, उसके अतिरिक्त सारी ध्वनियाँ बलहीन हैं ऐसा नहीं मानना चाहिए। बिना बल की कोई ध्वनि नहीं होती। हम **बली** ध्वनि उसे कहते हैं जिसमें अपेक्षाकृत अधिक बल होता है और अपेक्षाकृत कम बलवाली ध्वनि को **निर्बल** कहा जा सकता है। बली ध्वनि के संकेत के लिए ˈ लिपिचिह्न का प्रयोग वर्ण के पहले किया जाता है और निर्बल ध्वनियों के संकेत के लिए लिपिचिह्नों की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी के निम्नलिखित शब्दों में बल का स्वरूप दिखाया जा रहा है :—

ˈकमल
कि ˈसान
आ ˈराम
पुस्त ˈकालय

१२·४ हिन्दी में शब्द-स्तर पर मिलने वाले इस प्रकार के बल की उपयोगिता केवल इतनी है कि उपयुक्त बल की सहायता से शब्दों का स्वाभाविक उच्चारण करने में सरलता होती है। किन्तु कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जिनमें बल-भेद से शब्द-भेद हो जाता है। उदाहरणार्थ :—

अँगरेजी :—

ˈइम्पोर्ट (आयात)	इम् ˈपोर्ट (आयात करना)
ˈकॉण्डक्ट (आचरण)	कॉन् ˈडक्ट (संचालन करना)

रूसी :—

ˈज़मोक (दुर्ग)	ज़ ˈमोक (ताला)
ˈदोमा (घर में)	दो ˈमा (घर ब० व०)

१२·५ वाक्य-स्तर पर हिन्दी में भी बल का कार्य अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। वाक्य में जिस शब्द को यह बल प्राप्त होता है, अर्थ में भी उसी शब्द पर बल रहता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शब्द-स्तर पर किसी शब्द के जिस वर्ण पर बल रहता है, वाक्य-स्तर पर मिलने वाला यह अतिरिक्त बल भी उसी वर्ण पर दिया जाता है। चूँकि वाक्य-स्तर पर मिलने वाला यह बल अतिरिक्त होता है इसलिए शब्द-स्तर के बल से इसमें भेद करना आवश्यक है। कार्यकारिता की दृष्टि से वाक्य-स्तर का बल ही उल्लेखनीय है, इसलिए इसके लिए उपर्युक्त लिपिचिह्न का प्रयोग पर्याप्त होगा। निम्नलिखित वाक्यों से बल का यह कार्य स्पष्ट हो जायगा—

(१) ˈमैंने पुस्तक देखी है। (मैंने देखी है, उसने नहीं।)
(२) मैंने ˈपुस्तक देखी है। (पुस्तक देखी है, पत्रिका नहीं।)
(३) मैंने पुस्तक ˈदेखी है। (देखी है, पढ़ी नहीं है।)

१२·६ यह आवश्यक नहीं है कि यह बल वाक्य के किसी-न-किसी शब्द में विद्यमान ही हो। यदि उक्त वाक्य का उच्चारण अतिरिक्त बल के बिना किया जाय तो एक भिन्न अर्थ प्राप्त होगा जिसमें किसी शब्द विशेष के अर्थ पर जोर नहीं होगा बल्कि सीधा-सादा वर्णनात्मक वाक्य बन जायगा।

१२·७ स्वरतंत्रियों में होनेवाली तनाव की मात्रा के अनुसार घोष की ऊँचाई या नीचाई की मात्रा होती है। यही आरोह-अवरोह **सुर** है। इसमें भी अगणित कोटियाँ हो सकती हैं लेकिन मात्रा और बल की भाँति इसकी भी कुछ ही कोटियाँ निर्धारित कर लेना किसी भाषा के लिए पर्याप्त होता है। ऐसी प्रत्येक कोटि के अन्तर्गत एक दूसरी से मिलती-जुलती सुर की अनेक स्थितियाँ समाहित रहती हैं। कई भाषाओं में सुर के तीन भेद करना पर्याप्त होता है। **उच्च** सुर में स्वरतंत्रियों के तनाव की मात्रा बढ़ती है और सुर का आरोह होता है, **नीच** सुर में स्वरतंत्रियों

के तनाव की मात्रा घटती है और सुर का अवरोह होता है। **सम** सुर में स्वरतंत्रियों का तनाव अपरिवर्तित रहता है और सुर यथास्थान रहता है।

सुर के आरोह-अवरोह की मात्रा के अनुसार उसके विभागों के **सुर-स्तर** निर्धारित किये जा सकते हैं और उन्हें १, २, ३ आदि अंकों से द्योतित किया जा सकता है। सुर की निम्नतम स्थिति के लिए १, अपेक्षाकृत उच्च स्थिति के लिए २ और उच्चतर स्थिति के लिए ३ का प्रयोग संभव है। यह प्रक्रिया आवश्यकतानुसार घटाई या और आगे बढ़ाई जा सकती है।

१२·८ शब्द-स्तर पर कार्य करने वाला सुर **तान** कहा जाता है। तानयुक्त भाषाओं में सुर का भेद करने से शब्द का अर्थ बदल जाता है। इबो भाषा में 'इसि' शब्द का उच्चारण अवरोही सुर से किया जाय तो उसका अर्थ 'सुगन्ध' होता है, सम सुर से किया जाय तो उसका अर्थ 'सिर' होता है और आरोहावरोही सुर से किया जाय तो उसका अर्थ 'छह' होता है। 'दीवार' का अर्थ देने वाला दिंका भाषा का 'पन्य' शब्द उच्च सुर से उच्चरित होने पर एकवचन है; किन्तु नीच सुर से उच्चरित होने पर बहुवचन हो जाता है। सुपाली तथा धारणी कोर्कू में 'मोमोन' शब्द का अर्थ 'पाँच पाँच' होता है; किन्तु दूसरे वर्ण पर नीच सुर होने से उसका अर्थ हो जाता है—'मोमो नामक साँप में'। झल्लारी कोर्कू में 'हाडे' शब्द का अर्थ होता है—'जानता है;' लेकिन दूसरे वर्ण पर नीच सुर आने से उसका अर्थ हो जाता है—'अस्थिपंजर'।

१२·९ वाक्य स्तर पर कार्य करने वाला सुर **अनुतान** कहलाता है। अनुतान किसी शब्द का अर्थ नहीं बदलती; पूरे वाक्य के अर्थ में किसी भाव का योग कर देती है। अनुतान के निर्देश के लिए वाक्य के सुर-स्तरों के अतिरिक्त उसके अन्त्यर का उल्लेख करना होता है। वाक्य के अन्त की सुर-धारा का स्वरूप **अन्त्यर** कहलाता है। सुर के साथ-साथ बल का परिवर्तन भी इसमें होता है। अन्त्यर तीन प्रकार के माने जाते हैं। **अवरोही** अन्त्यर में घोष अत्यंत शीघ्रता के साथ क्षीण होकर समाप्त हो जाता है। सुर और बल दोनों ही तीव्र गति से लुप्त हो जाते हैं। **आरोही** अन्त्यर में सुर झटके से क्षिप्रता के साथ थोड़ा-सा उठ जाता है। बल अपेक्षाकृत शीघ्रता के साथ समाप्त हो जाता है यद्यपि उसका ह्रास अधिक स्पष्ट नहीं होता। **सम** अन्त्यर में सुर यथावत् सुरक्षित रहता है; अन्तिम वर्ण में कुछ दीर्घता आ जाती है और बल कुछ कम हो जाता है। इन तीनों के लिए क्रमशः ↓ ↑ → लिपिचिह्नों का प्रयोग किया जा सकता है।

१२·१० निम्नलिखित वाक्य में अनुतानों का भेद देखिए :—

(क) ^{2} राम भोपाल गया ^{1} ↓ (साधारण कथन)

(ख) ^{2}राम भोपाल ^{3} गया^{3} ↑ (प्रश्न)

(ग) ^{2} राम भोपाल ^{4}गया^{4} ↑ (विस्मय)

दो सुर-स्तरों के बीच में पूर्ववर्ती सुर ही विद्यमान रहता है। यदि उसमें भेद होता भी है तो बहुत थोड़ा और उपेक्षणीय। फलतः जब कोई अंक लिखा जाता है तभी से सुर-स्तर में उल्लेखनीय अन्तर आया समझना चाहिए।

निम्नलिखित शब्द-वाक्य में विविध अनुतानें मिलती है और विविध अर्थ वहन करती हैं। इनमें से कुछ अनुतानें इस प्रकार हैं :—

(क) ^{२}हूँऽ^{१} ↓ (किसी लम्बे विवरण को धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे सुनते हुए व्यक्ति द्वारा बीच-बीच में प्रयुक्त।)

(ख) ^{3}हूँऽ^{१} ↓ (अधिक तत्परता तथा स्फूर्ति के साथ प्रयुक्त ; जैसे कि विवरण छोटा और कम उबाने वाला हो अथवा श्रोता उसमें पर्याप्त प्रफुल्लता के साथ रुचि ले रहा हो।)

(ग) ^{3}हूँऽ^{२} ↓ (क के यह पूछने पर कि क्या सचमुच ख के पिता उसे घर से अलग कर देने पर तुले हुए है, ख का अत्यन्त खेद के साथ पुष्टि करना।)

(घ) ^{3}हूँऽ^{3} ↑ (क्या सचमुच ऐसा है ? प्रश्न)

(ङ) ^{४}हूँऽ^{४} ↑ (क्या सचमुच ऐसा है ! विस्मय)

सम अन्त्यर के उदाहरण निम्नलिखित है :—

^{२}क्यों^{१} → ^{२}राम भोपाल ^{3}गया^{3} ↑

^{२}मैंने कहा^{२} → ^{२} राम भोपाल §गया^{१} ↓

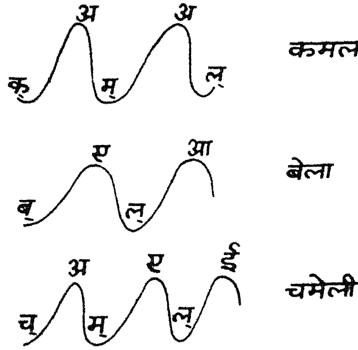
१२·११ यदि बल और सुर को मिलाकर एक तत्व के रूप में इनकी चर्चा करनी हो तो **आघात** शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

१३. 'वर्ण' शब्द का उल्लेख पीछे कुछ स्थानों पर हुआ है। फुफ्फुस द्वारा ध्वनि-उत्पादन के लिए किये जाने वाले वायु-निक्षेप की लय का सम्बन्ध वर्ण से है। मोटे तौर पर एक नाड़ी-स्पन्दन एक वर्ण होता है। एक ही झटके अथवा एक ही प्रयत्न से उच्चरित ध्वनि या ध्वन्यनुक्रम **वर्ण** है। ध्वनियों के आन्तरिक लक्षणों में उनकी अपनी **मुखरता** एक महत्त्वपूर्ण तत्व है। यदि हम दूर से कोई अनुक्रम सुनें तो हमें अधिक मुखर ध्वनियाँ सुनाई पड़ेंगी ; कम मुखर ध्वनियाँ नहीं सुनाई देंगी या कम सुनाई देंगी। मुखरता में ध्वनियों की मात्रा, बल, सुर आदि का भी योग हो जाता है तो इस प्रकार उन ध्वनियों को प्राप्त हुई शक्तिमत्ता उनका **उत्कर्ष** कहलाती है। मात्रा, बल, सुर आदि के द्वारा हम अधिक मुखर ध्वनि का उत्कर्ष कम कर सकते है और कम मुखर ध्वनि का उत्कर्ष बढ़ा भी सकते हैं। जो ध्वनि किसी वर्ण की आधार-शिला होती है उसमें उत्कर्ष होना आवश्यक है। इस आधार-ध्वनि को **वार्णिक** अथवा **वर्ण-न्यष्टि** कहा

---

§यदि 'गया' पर बल देना हो तो यहाँ (वाक्य-स्तर का) 'बल' लगेगा और सुर-स्तर भी ३ हो जायगा।

जाता है। उत्कर्ष की वृद्धि होने पर र्, ल् आदि व्यंजन वार्णिक बन जाते हैं (इनके लिए संस्कृत में ऋ, लृ लिपिचिह्नों का प्रयोग होता था) और इ, उ आदि स्वर व्यंजन बन जाते हैं (य, व इसीलिए अन्तःस्थ और अर्द्धस्वर कहे जाते हैं), यद्यपि सामान्यतः स्वर व्यंजनों की अपेक्षा अधिक मुखर होते हैं। यदि किसी शब्द के वर्णों की कल्पना किसी आरोह-अवरोह-युक्त रेखा के रूप में की जाय तो उसमें वार्णिक **शिखरों** तथा अवार्णिक **गह्वरों** के रूप में चित्रित किये जाएँगे। इस रेखा में जितने शिखर होंगे, उस शब्द में उतने ही वर्ण होंगे। इस प्रकार निम्नलिखित शब्दों में क्रमशः



कमल
बेला
चमेली

दो, दो और तीन वर्ण हैं। यद्यपि वर्णों का विभाजन पूरी तरह से ठीक-ठीक करना संभव नहीं है (क्योंकि गह्वर कहीं-कहीं समतल होंगे और सम धरातल में किसी नियत विन्दु पर विभाजन करना उचित नहीं होता), तथापि व्यावहारिक रूप से अधिकांश शब्दों का वर्ण-विभाजन कर लिया जाता है। उक्त शब्दों के वर्ण क्रमशः क–मल् ; बे–ला ; च–मे–ली हैं। जिस वर्ण के अन्त में स्वर होता है उसे **मुक्त** वर्ण और जिसके अन्त में व्यंजन होता है उसे **बद्ध** वर्ण कहा जाता है। उक्त शब्दों में 'मल्' के अतिरिक्त शेष सभी मुक्त वर्ण हैं।

१३·१ वर्णों की आकृति का विश्लेषण करना हो तो स्वर के लिए अ (अच्) और व्यंजन के लिए ह (हल्) का प्रयोग किया जा सकता है। हिन्दी के वर्णों के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

आकृति	**वर्ण**	**शब्द**
अ	अ, आ, ऊ	अजान, आजानु, ऊबा
अ ह	अब्	अब
ह अ	खा	खाना
ह अ ह	धन्	धन

ह ह अ	प्र	प्रणाम
ह ह अ ह	स्वर्	स्वर
ह अ ह ह ह ह	बस्व्य्	बस्व्यं
ह ह अ ह ह ह	कृत्स्न्	काशकृत्स्न

१४. ऊपर हमने औच्चारिकी का परिचय दिया है। स्वानिकी की दूसरी शाखा **सांचारिकी** पर अपेक्षाकृत देर से कार्य आरंभ हुआ है। किन्तु समय की अल्पता को देखते हुए इसने पर्याप्त प्रगति की है। किसी स्थान पर वायु में उत्पन्न किया गया कम्पन ध्वनि को लगभग ११०० फीट प्रति सेकण्ड के वेग से चारों ओर फैला देता है। उसकी ऊर्जा क्रमशः क्षीण पड़ती जाती है और अन्ततः समाप्त हो जाती है। चूँकि ये ध्वनि-तरंगें भौतिक वस्तु हैं, इसलिए इनका प्रत्यक्ष अध्ययन भौतिकी का विषय है। सांचारिकी भौतिकी की एक शाखा मानी जाती है; किन्तु ध्वनि से सम्बन्धित होने के कारण वह स्वानिकी के अन्तर्गत भी आ जाती है। ध्वनि-तरंगों के विवेचन-विश्लेषण के लिए जिन अनेक यंत्रों की सहायता ली जाती है, उनमें **दृश्यग्राह** सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इससे ध्वनि-तरंगों का जो चित्र खिचता है, उसे **दृश्यलेख** कहते हैं। सांचारिकी का विशेष विवरण यहाँ अपेक्षित नही है।

१५. स्वानिकी की तीसरी शाखा **श्रौतिकी** पर हुआ कार्य नहीं के बराबर है। इसमें श्रोता की दृष्टि से ध्वनि का विचार किया जाता है अर्थात् श्रोता को जो कुछ और जैसा सुनाई पड़ता है, उसी के अनुरूप ध्वनि का वर्णन किया जाता है।

(१) साँकरी गली में माय ! काँकरी गरतु हैं।

(२) मदभरे ये नलिन नयन मलीन हैं,
अल्प जल में या विकल लघु मीन हैं ?
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी,
बीत जाने पर हुए ये दीन है ?

(३) तनिक-तनिक तन की तन्वंगी तन-तन मारे तीर।
कन-कन धँसे बसे हियरा में छिन-छिन मीठी पीर॥

(४) दब्बत लत्थिनु अब्बत इक्क सुखब्बत से,
चब्बत लोह, अचब्बत सोनित गब्बत से।
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित इक्क मही,
जुट्टित फुट्टित सीस, सुखुट्टित तंग गही।
कुट्टित घुट्टित काय बिछुट्टित प्रान सही,
कुट्टित आयुध, हुट्टित गुट्टित देह दही।

(५) 'घड़धद्धरं घड़धद्धरं भड़भब्भरं भड़भब्भरं,
तड़तत्तरं तड़तत्तरं कड़कक्करं कड़कक्करं ।
घड़घग्घरं घड़घग्घरं झड़झज्झरं झड़झज्झरं,
अररर्ररं अररर्ररं सररर्ररं सररर्ररं ।

(६) कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत ।
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत ।।
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत ।
विकट कटक विद्धरत, बीरवारिद जिमि गज्जत ।।
लंगूर लपेटत पटकि भट जयति राम जय उच्चरत ।
तुलसीस पवन नंदन अटल जुद्ध बुद्ध कौतुक करत ।।

जब हम कहते हैं कि उक्त पद्यांशों में से प्रथम तीन श्रुतिमधुर और अन्तिम तीन अपेक्षाकृत श्रुतिकटु हैं तब हम श्रौतिकी की सीमा का स्पर्श कर रहे होते हैं। ध्वनियों की कोमलता-कठोरता श्रवण की, अतएव श्रौतिकी की, वस्तु है।

सीमान्तिकी

१६. व्यवहारवादी विद्वान वक्तव्य के पूर्ववृत्त तथा परवृत्त पर विशेष बल देते हैं और इन्हें अर्थ के रूप में ही स्वीकार करते हैं। 'मुझे भूख लगी है।' वाक्य का पूर्ववृत्त यह हो सकता है कि क ने तीन दिन से खाना नहीं खाया है और अब वह भूख से तड़प रहा है, अथवा सुबह खाने के बाद उसे दोपहर में फिर कुछ खाने की इच्छा हो रही है, यह भी संभव है कि उसे भूख न लगी हो और वह केवल विनोद कर रहा हो। उसने कितने समय से नहीं खाया है; उसने कुछ भी नहीं खाया है अथवा कोई हलकी-फुलकी वस्तु खाता रहा है जिससे कि उसे पूरी तृप्ति नहीं हुई है; उसकी भूख ने उसकी अनिच्छा और संकोच के बावजूद उसे यह कहने के लिए विवश कर दिया है अथवा उसने सामान्य रूप से यह बात कही है; दैन्यवश उसे किसी से भी यह निवेदन कर देना पड़ा है अथवा उसने अपने रसोइये से यह बात कही है; यह सब निश्चित नहीं है। इन स्थितियों का पता हमें उक्त वाक्य से नहीं चलता; किन्तु इसी प्रकार की बातें पूर्ववृत्त के अन्दर आती हैं। वक्तव्य के पहले वास्तविक जगत् में जो कुछ घट चुका है, वही उस वक्तव्य का **पूर्ववृत्त** है। पूर्ववृत्त में सहस्रों संभावनाएँ हो सकती हैं; उनमें से कुछ निश्चित संभावनाओं को वक्तव्य के साथ जोड़ना वक्तव्य के माध्यम से संभव नहीं है। वक्ता की बात सुनने के बाद उसका जो परिणाम होता है, उसे **परवृत्त** कहते हैं। क के वक्तव्य के बाद संभव है ख उसे किसी होटल में ले जाय; संभव है उसके लिए खाना बनाने लगे; संभव है अपने कटोरदान से कुछ निकालकर दे दे; संभव है दो-चार आने पैसे निकालकर उसकी ओर फेंक दे; संभव है उसकी ओर देखे और एक निःश्वास

फेंककर चल दे ; संभव है उसकी ओर देखे भी नहीं और ऐसे बढ़ता चला जाय मानो किसी ने कुछ कहा ही न हो। यही सारी बातें परवृत्त के अन्तर्गत आती हैं। वक्तव्य की सहायता से हम यह नहीं कह सकते कि इसका परवृत्त अमुक ही होगा। इसी प्रकार परवृत्त देखकर हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि इसके मूल में अमुक वक्तव्य ही रहा होगा। इसलिए किसी वक्तव्य का पूर्ववृत्त और / अथवा परवृत्त ही उस वक्तव्य का अर्थ है, ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। एक ही वक्तव्य का पूर्ववृत्त और परवृत्त व्यक्ति-व्यक्ति और प्रसंग-प्रसंग के अनुसार बदलता रहता है। किन्तु वक्तव्य का भाषायी अर्थ प्रत्येक स्थिति में एक होता है। किसी वस्तु, स्थिति या भाव आदि तथा उसके लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के बीच की कड़ी अर्थात् उनका पारस्परिक संबंध ही उस शब्द का अर्थ है।

१७. शब्दों के साथ अर्थ ऐच्छिक रूप से संबद्ध कर दिया गया है, इस बात का उल्लेख पीछे के पृष्ठों में किया जा चुका है। एक शब्द जिस वस्तु का अर्थ देता है, कोई भी दूसरा शब्द उस वस्तु का अर्थ दे सकता था। एक शब्द जो अर्थ देता है, वही शब्द उससे भिन्न कोई दूसरा अर्थ भी दे सकता था। इसके लिए केवल समाज के निर्णय की आवश्यकता थी।

१७·१ वास्तविक जगत् की किस वस्तु और किस स्थिति के कितने और किस भाग को एक इकाई के रूप में देखा जायगा और उसे एक शब्द से अभिहित किया जायगा, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। मनुष्य के बाहु के कितने भाग किये जायँ, इसका निश्चय प्रत्येक भाषा अपने-अपने ढंग से करती है। यदि उसके एक भाग को स्वतंत्र इकाई के रूप में 'हथेली' कहा जाता है तो क्या हथेली से लेकर कुहनी तक के लिए और कुहनी से लेकर कन्धे तक के लिए भी स्वतंत्र शब्द नहीं होने चाहिए ? यदि अँगुलियों के लिए पृथक्-पृथक् शब्द हो सकते हैं तो उनके पोरों के लिए अलग-अलग शब्द क्यों नहीं हो सकते ? प्रत्येक अँगुली के नाखून के लिए क्या स्वतंत्र शब्द नहीं निर्मित किया जा सकता ? जो नाखून हम स्वयं काटकर फेंक देते हैं क्या उसके लिए उस नाखून से भिन्न किसी शब्द का प्रयोग करना अनुचित होगा जिसके टूटने से हमें वेदना होती है ? यदि नाक के छिद्र को 'नथना' कहा जा सकता है तो कान के छिद्र को भी कोई नाम क्यों नहीं दिया जा सकता ? मुस्कराहट की लघुतम मात्रा से लेकर अट्टहास की गुरुतम मात्रा तक हँसी की अनेक कोटियाँ होती हैं जो आनन्द की परिचायिका होती हैं। इनके लिए 'मुस्कराना' और 'हँसना' के अतिरिक्त अन्य किसी कोटि का द्योतक शब्द भी क्यों नहीं प्रयुक्त होता§ ?

---

§ खिलखिलाना, किलकना, ठहाका लगाना आदि 'हँसने' के ही भेद-प्रभेद हैं, हँसने से अलग किसी अन्य कोटि के लिए प्रयुक्त होने वाले सामान्य शब्द नहीं हैं।

यदि ओठों आदि की सहायता से व्यक्त होने वाला आनन्द का यह स्वरूप एक ही इकाई के रूप मे देखा जाय तो इसमें क्या अनौचित्य है† ?

१७·२ इन्द्रधनुष मे रंग की क्रमबद्ध परिवर्त्तनशीलता मिलती है, किसी भी विन्दु का रंग अपने आस-पास के रंग से बहुत अधिक मिलता-जुलता होता है। दुनियाँ के सभी लोगों के पास एक-सो आँखे होती है जिनमें देखने की एक-जैसी शक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि छोटी-बड़ी, कैंची-सीधी, नीली-भूरी आदि आँखें किसी वस्तु को उसी प्रकार देखती हैं। अन्धों और क्षीण दृष्टि वालों की बात अलग है। देख सकने की शक्ति का बँटवारा भाषा के आधार पर नही होता। दूसरी ओर, इन्द्रधनुप एक भौतिक वस्तु होने के नाते सभी के लिए एक रहता है ; ऐसा नहीं है कि हिन्दी बोलने वालों के सामने एक तरह का रहे और अँगरेजी बोलने वालों के सामने बदल कर दूसरी तरह का हो जाय। इसके बावजूद अँगरेजी बोलने वाले इन्द्रधनुष की क्रमबद्ध परिवर्त्तनशीलता के छह भाग करके उन्हें छह इकाइयों के रूप में देखते हैं और उनके रंग के लिए छह भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग करते हैं, शोना (रोडेशिया की एक भाषा) बोलने वाले इन्द्रधनुष के तीन टुकड़े करते हैं और बस्सा (लाइबेरिया की एक भाषा) बोलने वाले छह या तीन के बजाय दो ही टुकड़े करते हैं। अँगरेजीभाषी कहेंगे कि इन्द्रधनुष में छह रंग हैं :—पर्पिल, ब्लू, ग्रीन, येलो, ओरेंज, रेड। शोनाभाषी कहेगा कि उसमें तीन रंग हैं :—चिप्स्वुका, चितेमा, चिचेना। बस्साभाषी कहेगा कि उसमें दो ही रग है :—हुई, ज़िजा। होता यह है कि ब्लू के एक अंश को तथा पर्पिल, ओरेंज और रेड को शोनाभाषी एक रंग के रूप में स्वीकार करते हैं, जिसे वे चिप्स्वुका कहते है। ग्रीन का कुछ अंश और अधिकांश ब्लू उनके लिए एक ही रंग है जिसका नाम है चितेमा। इसी प्रकार पूरा येलो और अधिकांश ग्रीन उनको एक ही रंग के रूप में स्वीकार है जिसे वे चिचेना कहते है। बस्सावाले पर्पिल, ब्लू और ग्रीन को एक ही रंग मानते हैं जिसे वे हुई कहते है। इसी प्रकार येलो, ओरेंज और रेड को एक ही रंग मानते हुए वे उसे ज़िज़ा कहते है।

मुक्त हास, अट्टहास आदि (जैसा कि इन शब्दों से ही प्रकट है) भी इसी प्रकार 'हँसी' के प्रकार हैं। यदि 'हँसी' शब्द को भूलकर उसके विशिष्ट रूपों को महत्त्व दिया जाय तो प्रश्न उठता है कि 'मुस्कराहट' के भी इसी प्रकार के विशिष्ट रूप क्यों न अभिव्यक्त किये जायँ। 'स्मित हास्य' शब्दानुक्रम में मुस्कराहट को भी हँसी का एक विशिष्ट रूप मान लिया गया है ; किन्तु यह वस्तुतः शास्त्रीय विश्लेषण मे ही प्राप्त होने वाली स्थिति है। दैनिक व्यवहार में हँसना-मुस्कराना दो भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ हैं।

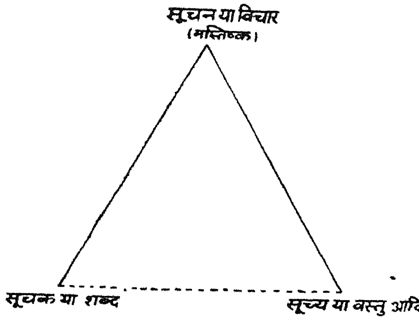
† कोर्कूभाषी इसके लिए 'लन्दा' शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ हमारे शब्दों में 'हँसना' भी है और 'मुस्कराना' भी।

मध्यप्रदेश के मवासी 'लीला' शब्द का प्रयोग हमारे नीले तथा हरे रंगों के लिए करते हैं।

१८. शब्द के साथ इस प्रकार ऐच्छिक रूप से संबद्ध किये गये अर्थ की पूरी व्यापकता का ज्ञान मनुष्य को अनुभव से होता है। पूर्ववृत्त और परवृत्त अपने आप में अर्थ नहीं हैं; लेकिन अर्थ को समझने के एकमात्र साधन वही हैं। बच्चा प्रसंगों को देखता है, उनमें स्वयं सम्मिलित होता है और उनमें भाषा की कार्य-कारिता को समझता है। अर्थ के अर्जन की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। अपने घर के श्वेत वर्ण के एक पशु-विशेष के लिए जब बच्चा 'गाय' शब्द का प्रयोग सीख लेता है, तब भी उसे यह सीखना शेष रह जाता है कि दूसरे घरों में मिलनेवाले वैसे ही जानवर के लिए इसी शब्द का प्रयोग किया जायगा ; रंग उजला न होकर काला या भूरा हो तब भी इसी शब्द का प्रयोग किया जायगा ; यही नहीं, दीवाल या कागज आदि पर बने किसी विशेष चित्र के लिए भी संक्षेप में 'गाय' शब्द का प्रयोग किया जा सकेगा जिससे उक्त पशु का साम्य खोजने में कुछ कल्पना का सहारा लेना पड़ेगा और मिट्टी-लकडी के किसी खिलौने को भी 'गाय' कहा जा सकेगा जिससे किसी प्रकार आकृति-साम्य मात्र स्थापित किया जा सकता है।

१९. अर्थार्जन की इस प्रक्रिया में मनुष्य अनायास और अनजाने अर्थ के **भेदक तत्वों** तथा **अभेदक तत्वों** का विश्लेषण किया करता है। यदि काली गाय भी 'गाय' है, भूरी गाय भी 'गाय' है और उजली गाय भी 'गाय' है तो 'गाय' के लिए रंग एक अभेदक तत्त्व है। यदि छोटी गाय भी 'गाय' है और बड़ी गाय भी 'गाय' है तो उसके लिए ऊँचाई भी एक अभेदक तत्त्व है। इसी प्रकार यदि हत्थेवाली कुर्सी भी 'कुर्सी' है और बिना हत्थेवाली कुर्सी भी 'कुर्सी' है तो कुर्सी के अर्थ के लिए हत्था एक अभेदक तत्त्व है। यदि बेत की सीट वाली कुर्सी भी 'कुर्सी' है और लकड़ी की सीटवाली कुर्सी भी 'कुर्सी' है तो सीट का बेत या लकड़ी का होना एक अभेदक तत्त्व है। यदि 'कुर्सी' लकड़ी की भी हो सकती है, लोहे की भी हो सकती है और सोने की भी हो सकती है तो कुर्सी के अर्थ में यह बात एक अभेदक तत्त्व है कि वह किस धातु की बनी है। 'मेज' यदि लकड़ी की भी हो सकती है और लोहे की भी तो निर्माण में लगी धातु का प्रश्न यहाँ भी अभेदक है। यदि 'मेज' बड़ी और छोटी दोनों हो सकती है तो मेज के अर्थ के लिए उसका आकार एक अभेदक तत्त्व है। यदि मेज का ऊपर का आधा (या आधे के लगभग) भाग ढालू हो और उसका ढक्कन के रूप में प्रयोग किया जाता हो तो इस प्रकार की मेज 'मेज' नही 'डेस्क' होगी। यहाँ ऊपर के आधे (या आधे के लगभग) भाग का ढालू होना-न होना और उसका ढक्कन के रूप में उपयोग होना-न होना एक भेदक तत्त्व है क्योंकि इसी के कारण एक वस्तु 'मेज' हो जाती है और दूसरी 'डेस्क'।

२०. अर्थार्जन का कार्य मनुष्य का मस्तिष्क करता है ; इसलिए शब्द का अर्थ मनुष्य के मस्तिष्क में रहता है। शब्द और वाच्य वस्तु में परस्पर सीधा संबंध नहीं है। ओग्डेन और रिचार्ड्स ने यह स्थिति एक त्रिकोण के द्वारा समझाई है,



जिसे उन्होंने 'सूचन का त्रिकोण' कहा है। इसमें विन्दु-रेखा का प्रयोग संबंध की अप्रत्यक्षता का संकेत करने के लिए किया गया है।

२०·१ चूँकि शब्द का अर्थ मनुष्य के मस्तिष्क में रहता है और प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क की बात सामने भौतिक रूप से प्रदर्शित नहीं की जा सकती ; इसलिए स्वभावतः इस बात की कोई व्यवस्था नहीं है जिसके द्वारा सभी लोग किसी शब्द के अपने-अपने अर्थ को सामने रखकर एक दूसरे के अर्थ से उपयोगी तुलना कर सकें और किसी प्रकार का अन्तर न रहने दें। हम पूर्ववृत्त और परवृत्त की सहायता से शब्द का अर्थ सीखते हैं और समाज में उसका व्यवहार करते हैं, इसलिए समाज के सभी सदस्यों के अर्थ प्रायः एक-से होते हैं। अर्थार्जन की निरन्तर गतिशील प्रक्रिया भी किसी प्रकार के रहे-सहे अन्तर को समाप्त करती रहती है। इसलिए अन्तर की संभावना कम हो जाती है। फिर भी मस्तिष्क अदृश्य है और अर्थार्जन की प्रक्रिया के चलते रहने का अभिप्राय भी यही है कि सारे सदस्यों के मस्तिष्क में सारे सदस्यों के अर्थ का चित्र पूर्ण नहीं होता। फलतः सामूहिक रूप से भी शब्दों का अर्थ सूक्ष्म रूप से बदलता रहता है। यह **परिवर्तन** निरन्तर चलता रहता है जिसके कारण अनेक शब्दों का अर्थ बहुत समय के बाद पर्याप्त मात्रा में बदल जाता है।

२०·२ चूँकि भाषा के द्वारा समाज का संचालन होता है और इसके लिए भाषा का परस्पर समझा जाना आवश्यक है, इसलिए शब्दार्थ-परिवर्तन क्षिप्र नहीं हो सकता। इस परिवर्तन की गति इतनी धीमी होती है कि कोई व्यक्ति जान भी नहीं पाता। इस आशय में हम यह कह सकते हैं कि शब्दार्थ **निरन्तर** होता है और प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समय कोई **निश्चित** अर्थ होता है। किसी शब्द का अर्थ सहसा परिवर्तित हो जाय, यह संभव नहीं है।

स्वानिमी

२१. स्वानिमी की आधारभूत इकाई स्वनिम कहलाती है। मिलती-जुलती ऐसी ध्वनियों या ध्वनिगुणों का भावानयन **स्वनिम** कहलाता है जो व्यवहार की दृष्टि से किसी विशेष भाषा में एक ही इकाई बनाएँ।

२१·१ सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य प्रत्येक ध्वनि का उच्चारण एक ही बार करता है। यदि हम किसी ध्वनि का उच्चारण दस बार करते हैं तो वस्तुतः यह उच्चारण दस भिन्न-भिन्न ध्वनियों का होता है। किन्तु यह भिन्नता इतनी अल्प होती है कि हम उसे पकड़ नहीं पाते। इस प्रकार हम किसी भी ध्वनि का उच्चारण बिल्कुल उसी तरह जीवन में दुबारा नहीं कर सकते। कम-से-कम यह सम्भावना उतनी ही अल्प होती है जितनी आकाश में दो सितारों के परस्पर टकरा जाने की। दूसरी ओर, दो व्यक्तियों द्वारा उच्चरित ध्वनियाँ भी कभी पूर्णतः समान नहीं होतीं। किन्तु यह भिन्नता भी उतनी ही सूक्ष्म होती है। एक ही स्थान के दो व्यक्तियों को बोलते सुनकर हम शायद यह तो जान सकते हैं कि ये दो अलग-अलग व्यक्ति हैं, ये स्त्री हैं या पुरुष; किन्तु हम यह नहीं जान सकते कि इन दो व्यक्तियों द्वारा उच्चरित एक ही ध्वनि वास्तव में एक-दूसरे से भिन्न है—उसके उच्चारण-स्थान तथा प्रयत्न आदि में कुछ भेद है।

समाज के सारे सदस्यों को ध्यान में रक्खें और उनके जीवन भर में उच्चरित भाषा पर विचार करें तो एक ही ध्वनि का उच्चारण असंख्य बार करना पड़ता है। ये वास्तव में असंख्य ध्वनियाँ होती है जिनमें परस्पर पार्थक्य होता है; फिर भी हम इन्हें एक ही ध्वनि समझते हैं। ऐसा क्यों होता है ?

यदि हम उच्चारण की समस्त संभावनाओं को एक विस्तृत क्षेत्र के रूप में कल्पित करें तो उसमें असंख्य विन्दु होंगे। यह प्रत्येक विन्दु हमारे एक-एक बार के उच्चारण के समान है। यदि उक्त क्षेत्र के कई भाग कर दिये जायँ तो इनमें से प्रत्येक भाग में भी असंख्य विन्दु होंगे। जिसे हम एक ही ध्वनि समझते रहते हैं वह वस्तुतः इसी प्रकार का एक भाग होती है। जिस प्रकार इस भाग की परिधि के अन्तर्गत असंख्य विन्दु होते हैं लेकिन हम उन सबको उस भाग से ही सम्बद्ध करते हैं, उसी प्रकार तथाकथित एक ध्वनि (—क्षेत्र) के असंख्य भिन्न-भिन्न उच्चारणों को हम उसी ध्वनि से सम्बद्ध करते हैं। यदि हमारा उच्चारण ध्वनि की उक्त परिधि के अन्तर्गत ही किसी विन्दु को छूता है तो हम उसे उसी ध्वनि के रूप में सुनते हैं; किन्तु यदि वह उक्त परिधि के बाहर जाने लगता है तो उसके अन्य ध्वनि के रूप में सुने जाने की सम्भावना बढ़ने लगती है। कई विद्वानों ने स्वनिम की जो परिभाषा दी है उसके अनुसार हम उक्त परिधि को स्वनिम मान सकते है। लेकिन हमारी परिभाषा में स्वनिम को 'क्षेत्र' के बजाय 'भावानयन' के रूप में स्वीकार किया गया

है। वास्तव में जब हम किसी क्षेत्र की कल्पना करते हैं तो उसमें तुरन्त ही असंख्य विन्दु समाविष्ट हो जाते हैं। इसके विपरीत स्वनिम के क्षेत्र की उच्चारण-संभावनाएँ अरबों की संख्या में भविष्य के गर्भ में छिपी रहती हैं, भूत में विलीन हो चुकती हैं अथवा समाज के अन्य सदस्यों के द्वारा व्यवहृत होती रहती हैं, जिन्हें हम सुन नहीं पाते। इस प्रकार व्यक्ति के मस्तिष्क में स्वनिम का क्षेत्र नहीं रह सकता। अनेक विन्दुओं के उच्चारण के और उसके श्रवण के अभ्यस्त होकर हम भावानयन करते हैं और उस भावानीत ध्वनि का स्वरूप हमारे मस्तिष्क में रहता है। यदि कोई ध्वनि हमारे इस भावानयन के अनुरूप होती है तो हम उसे इस ध्वनि के रूप में ग्रहण करते हैं अन्यथा किसी अन्य ध्वनि के रूप में। ये भावानीत इकाइयाँ कई होती हैं और इनका अस्तित्व हमारे मस्तिष्क में होता है। प्रत्येक भावानीत इकाई एक स्वतन्त्र स्वनिम होती है और स्वभावतः प्रत्येक स्वनिम के अन्तर्गत होने वाले उच्चारण एक-दूसरे से मिलते-जुलते होते हैं। यह साम्य उच्चारण-स्थान और/या प्रयत्न का होता है।

२१·२ वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए हम प्रत्येक स्वनिम को भी कई भागों में विभाजित करते हैं और उन विभागों का पारस्परिक सम्बन्ध देखते हैं। ये प्रत्येक स्वनिम के सदस्यों के रूप में होते हैं। ये सदस्य अपने-अपने स्वनिम के **संस्वन** कहे जाते हैं। उच्चारण के क्षेत्र में संस्वन की भी अपनी परिधि होती है। प्रत्येक स्वनिम में कितने संस्वन हैं, यह बात एक ही प्रकार से निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। यदि हम किसी स्वनिम के अधिक भाग करते हैं तो उसमें अधिक संस्वन होंगे। यदि हम उस स्वनिम के कम खंड करते हैं तो संस्वनों की संख्या कम होगी। प्रायः स्वनिमों के कम विभाग करने की ही परम्परा है, जिसके फलस्वरूप ऐसे मुख्य-मुख्य संस्वन ही संस्वनों के रूप में स्वीकार किये जाते हैं जिनका अन्तर अधिकांश लोग थोड़े-से प्रयत्न से सुन और समझ सकें। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि स्वनिम की अपने आप में कोई भौतिक सत्ता नहीं है। जो हम बोलते हैं और जो हमारे कान में पहुँचता है, वह स्वनिम नहीं होता, ध्वनि होती है। वास्तव में वह संस्वन भी नहीं होता क्योंकि संस्वन भी उच्चारण की सम्भावनों की एक परिधि के रूप में होता है। फिर भी सामान्य व्यवहार में हम यह कहते हैं कि हम उच्चारण में स्वनिमों के संस्वनों का ही व्यवहार करते हैं। जब उच्चारण की इस वैज्ञानिक स्थिति का रूप भलीभाँति स्पष्ट कर दिया जाता है, तब हम सरलता के लिए 'स्वनिमों के उच्चारण' की भी बात करने लगते हैं, यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह उक्त वक्तव्य से अधिक अवैज्ञानिक सिद्ध होता है। उसकी अभौतिक सत्ता में हम अवश्य ही स्वनिम का उच्चारण और श्रवण करते हैं; क्योंकि वक्ता तथा श्रोता दोनों के लिए स्वनिम ही यथार्थ होता है।

२१·३ अपनी परिभाषा के अनुकूल शब्दों में कहें तो अनेक संस्वन मिलकर

व्यवहार में स्वनिम नामक एक ही इकाई बनाते हैं। व्यवहार में एक ही इकाई बनाने का क्या अर्थ है ?

स्वनिमों के व्यवहार करने का तात्पर्य है उनका मिल-जुल कर सार्थक शब्द बनाना और उच्चारों को पृथक् रखना। 'आम' और 'राम' दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं, इसका कारण यह है कि दूसरे शब्द में प्रथम शब्द के सारे स्वनिम ज्यों-के-त्यों भले ही उपस्थित हों, उनके पहले एक और स्वनिम /र्/ भी विद्यमान है जो पहले शब्द में नहीं है। /आ/ तथा /म्/ ने मिलकर 'आम' शब्द की रचना की, /र्/, /आ/ तथा /म्/ ने मिलकर 'राम' की रचना की और /र्/ स्वनिम ने इन दोनों उच्चारों को पृथक् रक्खा। अपने इस व्यवहार में कोई स्वनिम एक ही इकाईके रूप में कार्य करे इसके लिए आवश्यक है कि उसके सदस्य अर्थात् संस्वन कभी एक दूसरे के विरोध अथवा **व्यतिरेक** में न आएँ।

२१·४ व्यतिरेक में आने का तात्पर्य है एक ही **परिवेश** में आ सकना और अर्थ-भेद कर देना। उच्चार के आदि में, /आल्/ के पूर्व, [क्] तथा [ग्] दोनों का प्रयोग हो सकता है जिससे हमें भिन्न-भिन्न अर्थ देने वाले 'काल' और 'गाल' शब्द प्राप्त होंगे। [क्] और [ग्] ध्वनियों का परिवेश यहाँ एक ही है क्योंकि दोनों आद्य स्थिति में हैं (उनके पहले और कोई स्वनिम नही है) तथा दोनों के बाद एक ही स्वनिमानुक्रम /आल्/ है, यहाँ [क्] के बजाय [ग्] का और [ग्] के बजाय [क्] का प्रयोग अर्थ-भेद कर देता है। इसलिए [क्] तथा [ग्] परस्पर व्यतिरेक में है। फलतः ये एक ही स्वनिम के संस्वन नहीं हैं बल्कि पृथक्-पृथक् स्वनिम हैं।§ उच्चारों का ऐसा युग्म जो एक ही स्वनिम के कारण पार्थक्य प्राप्त करता हो, **लघुतम युग्म** कहलाता है। इसमें युग्म लघुतम नहीं होता बल्कि भेदक स्वनिमों की संख्या लघुतम अर्थात् एक होती है। /काल्/ तथा /गाल्/ एक लघुतम युग्म है। /काल्/ और /मील्/ लघुतम युग्म नही है।

२१·५ व्यतिरेक में न आने के लिए एक सम्भावना यह हो सकती है कि दो ध्वनियाँ **पूरक बंटन** में हों अर्थात् उनका वितरण इस प्रकार का हो कि जिस परिवेश में एक आती हो, उसमें दूसरी न आती हो। उदाहरणार्थ, अँगरेजी में हमारे 'ल्' से मिलती-जुलती दो ध्वनियाँ हैं जिन्हें हम सुविधा के लिए [ल्] तथा [ल्] संकेतों से व्यक्त कर सकते हैं। इनमें से पहली ध्वनि हिन्दी 'ल्' से बहुत मिलती-जुलती है और

---

§संस्वनों को अथवा ऐसी ध्वनियों को जिनका स्वानिमिक स्तर निश्चित न हो पाया हो, [ ] के बीच लिखा जाता है। स्वनिमों के लिए / / का उपयोग किया जाता है। चूँकि [क्] और [ग्] स्वनिम सिद्ध हो गये हैं, इसलिए अब इन्हें हम /क्/ और /ग्/ के रूप में लिख सकते हैं।

दूसरी ध्वनि कुछ भिन्न है। उसके उच्चारण में 'ल्' के उच्चारण का स्वरूप तो होता ही है, साथ-साथ जिह्वापश्च उत्कंठ की ओर उठता है। थोड़ा ध्यान देने पर सभी हिन्दी वाले इन ध्वनियों का भेद सुन सकते हैं। किन्तु ये दोनों पूरक बंटन में है अर्थात् जिस परिवेश मे एक ध्वनि आती है, उसमें दूसरी कभी नहीं आती।

[ल्] स्वरों तथा य् के पूर्व।

[ल़्] अन्य व्यंजनो के पूर्व तथा शब्दान्त में।

इसी नियम के अनुसार लीव, लेक, लैण्ड, मिल्यन आदि शब्दों मे [ल्] का और बोल्ड, गोल्ड, किल्ड, बेल्च, बेल्ट, फ़ुल, कॉल, मिल आदि शब्दों में [ल़्] ध्वनि का उच्चारण होता है।

हिन्दी में इसी प्रकार जिसे हम 'र्' लिखते है, वह वास्तव मे तीन ध्वनियों के लिए प्रयुक्त होने वाला लिपिचिह्न है। इन तीनों ध्वनियों को हम [र्-१], [र्-२] और [र्-३] कह सकते है। परिवेश के अनुसार इनका वितरण इस प्रकार है :—

[र्-१] दो स्वरों के बीच तथा शब्द की आद्य स्थिति में।

[र्-२] व्यंजन-स्वर के बीच तथा शब्दान्त में।

[र्-३] स्वर-व्यजन के बीच।

इनमें से पहली ध्वनि के उच्चारण में जिह्वानोक धीरे से काँपती है और प्राय: अधिक-से-अधिक एक लघ्वाघात करती है। कुछ लोगो के उच्चारण में यह सघर्षी की भाँति भी उच्चरित होती है, जिसमें संघर्ष की मात्रा पर्याप्त कम होती है (यह उच्चारण शब्दादि में अधिक मिलता है)। उदाहरणार्थ:—आराम, विरत, सुरम्य, रम्य, ऋण, रोचक।

दूसरी ध्वनि के उच्चारण में जिह्वानोक का कंपन अपेक्षाकृत तीव्र होता है, लघ्वाघातों की संख्या दो-तीन होती है और शब्दान्त में कुछ लोगों के उच्चारण में लुंठन के साथ संघर्ष भी विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ:—क्रम, प्रण, तृण, क्रान्ति, स्रोत, और, वीर, शूर, पीर।

तीसरी ध्वनि के उच्चारण में जिह्वानोक और तीव्रता के साथ काँपती है तथा कई लघ्वाघात करती है। इसमें सघर्ष नहीं मिलता। उदाहरणार्थ:—अर्घ्य, कर्त्तन, मूर्धन्य, अर्पण, शर्म, अर्गला।

हिन्दी-भाषियों को इन तीनों ध्वनियो का अन्तर सुनने के लिए उपर्युक्त शब्दों का बार-बार उच्चारण करना चाहिए और यह अनुभव करने की चेष्टा करनी चाहिए कि उनकी जिह्वानोक क्या करती है। जो लोग स्वानिकी में प्रशिक्षित नहीं है, उन्हें यह अन्तर सुनने में महीनों भी लग सकते है।§

§ यह तथ्य भी इसी बात का प्रमाण है कि हमारे लिए ये तीनों ध्वनियाँ एक ही इकाई अर्थात् एक ही स्वनिम के रूप में कार्य करती है। यदि ये पृथक्-पृथक् स्वनिम होते तो हम इनकी भिन्नता सहज ही सुन लेते।

वितरण के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इन ध्वनियों में व्यतिरेक नहीं होता, इनमें पूरक बंटन है। इसलिए हम यह कह सकते है कि ये अलग-अलग स्वनिम नही है बल्कि एक ही स्वनिम के तीन संस्वन हैं और इस कारण व्यवहार में इन्हें एक ही इकाई मानते हुए हम इनके लिए एक ही लिपिचिह्न /र्/ का प्रयोग कर सकते हैं।

अँगरेजी में बली वर्ण में वार्णिक के पूर्व आने वाला क् [ख्] के रूप मे उच्चरित होता है; किन्तु यदि उसके पहले स् विद्यमान हो तो [क्] के रूप में उच्चरित होता है। वार्णिक के बाद अथवा निर्बल वर्ण में [क्] उच्चारण ही मिलता है। जिसे हम 'स्किन' कहते हैं उसका उच्चारण तो यही है लेकिन जिसे हम 'किन' कहते हैं उसका अँगरेजी उच्चारण 'खिन' है। इन दोनों ध्वनियों मे भी व्यतिरेक नही है, पूरक बंटन है और इसलिए ये दोनों एक ही स्वनिम की रचना करती है।

२१·६ हमारी परिभाषा में एक शर्त यह भी रक्खी गई है कि एक ही स्वनिम के अन्तर्गत आने वाली ध्वनियाँ मिलती-जुलती होनी चाहिए। इसके सम्बन्ध में ऊपर कुछ चर्चा भी की जा चुकी है। यदि दो ध्वनियाँ पूरक बटन में हों लेकिन मिलती-जुलती न हों तो वे भिन्न-भिन्न स्वनिम होंगी, उसी प्रकार जैसे दो मिलती-जुलती ध्वनियाँ पूरक बंटन में न होने पर (व्यतिरेक में होने पर) भिन्न-भिन्न स्वनिम होती है। अँगरेजी में ह् और ङ् ध्वनियो का वितरण इस प्रकार है:—

[ह्] शब्दादि मे तथा द्विस्वरान्तर्गत। उदाहरणार्थ हैण्ड, बिहाइण्ड।

[ङ्] शब्दान्त मे तथा व्यजन के पूर्व। उदाहरणार्थ टङ्, बैङ्गिल।

इस प्रकार इन दोनों ध्वनियों मे पूरक बंटन है किन्तु ये मिलती-जुलती नहीं हैं क्योंकि इनमें उच्चारण-स्थान या प्रयत्न किसी में कोई साम्य नही है। इसलिए ये एक ही स्वनिम की रचना नहीं करती बल्कि भिन्न-भिन्न स्वनिमों की रचना करती है।

इस निर्णय के पीछे है हमारी यह मान्यता कि स्वनिम एक ही इकाई होता है और विभिन्न परिवेशों में उसमें थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन हो जाता है। क नामक व्यक्ति कोट-पैण्ट पहनकर विश्वविद्यालय जाता है और अण्डरवियर पहन कर बाथरूम में जाता है। इन दोनों परिवेशों में उसका यह पूरक बंटन है; लेकिन व्यक्ति वही रहता है। जिस प्रकार हम वेश-भूषा को भूलकर व्यक्ति को पहचान लेते हैं, स्वनिम को पहचानने की क्रिया कुछ उसी प्रकार की है। परिवेशों के कारण होने वाला अन्तर वेश-भूषा की भाँति है और दोनों का ध्वन्यात्मक साम्य व्यक्ति के शरीर की भाँति है। यदि अँगरेजी में [क्] और [ख्] एक स्वनिम की रचना करते हैं तो हम यों कह सकते हैं कि /क्/ स्वनिम नामक व्यक्ति एक परिवेश में महाप्राणत्व नामक वस्त्र धारण करके जाता है और दूसरे परिवेश में उसको धारण नहीं करता।

२१·७ यदि क व्यक्ति बाथरूम में कोट-पैण्ट पहनकर स्नान करने लगे और अण्डरवियर पहनकर विश्वविद्यालय के लिए रवाना हो जाय तो हमें बड़ा अटपटा लगेगा लेकिन हमें उसको पहचानने मे कोई कठिनाई नहीं होगी । इसी प्रकार दो संस्वन यदि कभी एक-दूसरे के परिवेश में आ भी जायँ तो हमें अटपटा अवश्य लगेगा ; किन्तु स्वनिम को पहचानने में हमें कोई कठिनाई नहीं होगी । इससे शब्दार्थ में भेद भी नही आ सकता । कभी-कभी ऐसा होता है कि दो ध्वनियाँ एक ही परिवेश मे आ सकने के लिए स्वतत्र होती है; किन्तु अर्थ में भेद नही कर पातीं । अर्थ में भेद न कर पाने के कारण ही इसे व्यतिरेक नहीं कहा जाता, **मुक्त विभेद** कहा जाता है । व्यतिरेक मे न आने की यह दूसरी सभावना है । 'दीवाल–दीवार' युग्म में 'ल्–र्' मे मुक्त विभेद है क्योंकि इनका परिवेश पूर्णत: एक है और इनके कारण कोई अर्थ-भेद नहीं हो रहा है । यदि मुक्त विभेद में आने वाली ध्वनियाँ भाषा में कही भी व्यतिरेक न प्रदर्शित करती हो तो उन्हें हम एक ही स्वनिम के अतर्गत रखते है । 'हाल-हार' युग्म से यह पता चलता है कि 'ल्-र्' मे व्यतिरेक होता है क्योंकि एक ही परिवेश में आकर ध्वनियाँ अर्थ-भेद कर रही है । फलत: हमें इन दोनों को दो स्वतन्त्र स्वनिमो के रूप में स्वीकार करना पड़ता है । इस उदाहरण से यह प्रमाणित होता है कि हमें अपने निष्कर्ष सारी भाषा पर आधारित करने चाहिए, थोड़े-बहुत अंश पर नहीं । 'दीवाल-दीवार' के युग्म के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि इसमें /ल्/ तथा /र्/ स्वनिमों में मुक्त विभेद मिलता है । अनेक लोगों की रूसी भाषा में च और कोमल त (त्य-सदृश) में तथा ज और कोमल द (द्य-सदृश) में मुक्त विभेद मिलता है और इन युग्मों में कही भी व्यतिरेक नहीं मिलता, इसलिए एक ओर [च्] तथा [त्य्] एक ही स्वनिम के सस्वन मिद्ध होते है, दूसरी ओर [ज्] तथा [द्य्] एक ही स्वनिम की रचना करते हैं । उदाहरणार्थ :—

प्याच अथवा प्यात्य—'पाँच'

अजीन अथवा अद्यीन—'एक'

कोर्कू भाषा में अनेक शब्दों में संस्वनों के मुक्त विभेद के उदाहरण मिलते हैं । उदाहरणार्थ, केन या खेन='को' ।

२१·८ हमारी परिभाषा का एक अंग यह भी है कि स्वनिमों का निर्धारण किसी विशेष भाषा के लिए ही हो सकता है, सारी भाषाओं के लिए सामान्य रूप से नही हो सकता । अँगरेजी और कोर्कू में [क्] तथा [ख्] एक ही स्वनिम के दो संस्वन हैं लेकिन हिन्दी में ये स्वतंत्र स्वनिम है क्योंकि हिन्दी में इनमें व्यतिरेक मिलता है । उदाहरणार्थ, काल-खाल । इसी प्रकार अँगरेजी में [ल्] और [ल़्] एक ही स्वनिम के दो संस्वन है; किन्तु रूसी में ये स्वतंत्र स्वनिम हैं । उदाहरणार्थ,

लूक—विपाट द्वार

लूक—प्याज

मोल—कीट
मोल—घाट
म्येल— तट
म्येल—चॉक

कोई स्वनिम किसी विशेष भाषा का ही स्वनिम हो सकता है, अनेक भाषाओं का नहीं; इसका एक कारण यह भी है कि स्वनिम किसी भाषा के ध्वन्यात्मक व्यतिरेकों की व्यवस्था का एक अंग होता है, कोई भौतिक वस्तु या घटना नही होता। व्यतिरेकों की व्यवस्था एक भावानीत वस्तु है और दुनियाँ की किन्ही भी दो भाषाओं में व्यतिरेकों की एक ही व्यवस्था नहीं हो सकती। प्रत्येक भाषा के स्वनिमों की संख्या अन्य भाषाओं से कुछ-न-कुछ भिन्न होती है, उनके स्वनिमों में से प्रत्येक की व्याप्ति के क्षेत्र में कुछ-न-कुछ भेद होता है और उनके ध्वन्यात्मक मूल्य भी पूर्णतः समान नहीं होते। इसलिए यदि हमें किसी स्वनिम पर विचार करना हो तो जिस भाषा की बात है, उसकी समग्र व्यवस्था जाने बिना हम कुछ नहीं कर सकते और उस स्वनिम की यथार्थता उस भाषा के सिवा और किसी भाषा के लिए नही हो सकती। यदि हम किसी भाषा के स्वनिम की चर्चा करना चाहें तो हम उसका विवरण नकारात्मक शब्दों में पूर्ण वैधता के साथ इस प्रकार दे सकते है:—यह अमुक-अमुक (अन्य सभी) स्वनिमों से भिन्न और अनेक स्थितियों में इनसे व्यतिरेक दिखाने वाला स्वनिम है। अर्थात् हिन्दी /क्/ स्वनिम का परिचय हम इस प्रकार दे सकते हैं:— यह /ख्/ नहीं है, /ग्/ नहीं है,........आदि।

इसके विपरीत ध्वनि या स्वन एक भौतिक घटना है। उसका विवरण हम भाषा को जाने बिना दे सकते हैं। किसी अज्ञात-भाषा-भाषी से [क्] ध्वनि मात्र सुनकर हम इसका पूर्ण स्वनिक वर्णन कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि यह एक स्पर्श ध्वनि है जिसके उच्चारण में जिह्वापश्च का अगला भाग उत्कंठ के अगले भाग के सम्पर्क में आता है, आदि।

२१·६ स्वनिम के अनेक संस्वनों में से एक को **मानक** मान लेते हैं और उसे स्वनिम के रूप में लिखते हैं। अन्य संस्वन उस मानक के **विभेद** माने जाते हैं। सामान्यतः मानक का पद उस संस्वन को मिलता है जो अधिक परिवेशों में आता है। सारे संस्वनों का वितरण अधिकाधिक सरल ढंग से बताया जा सके या सरलता से लिखा जा सके, यह मानदंड भी मानक के निर्धारण मे साथ रहता है। उदाहरणार्थ, यदि अँगरेजी में [क्] और [ख्] ध्वनियाँ एक ही स्वनिम के अन्तर्गत आती हों तो इनमें /क्/ मानक मानकर स्वनिम के रूप में लिखी जाती है, जिसके दो संस्वन [क्] और [ख्] होंगे।

२२. स्वनिमों के निर्धारण में लघुतम युग्मों की खोज अधिक उपयोगी होती है क्योंकि इनके द्वारा दो ध्वनियों का भिन्न-भिन्न स्वनिम होना निर्विवाद रूप से

सिद्ध हो जाता है। स्वनिमो की खोज के लिए हमे शब्दो की समस्त स्थितियों की परीक्षा करनी चाहिए क्योंकि कुछ स्वनिम ऐसे भी होते है जो आद्य, मध्य और अन्त्य स्थितियो मे से सब मे न आकर कुछ ही स्थितियो मे व्यवहृत होने है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित तालिका मे आद्य स्थिति के व्यतिरेक मिलते है :—

काल	खाल	गाल	घाल[१]	
चाल	छाल	जाल	झाल[२]	
टाल	ठाल[3]	डाल	ढाल	
ताल	थाल	दाल	—	नाल
पाल	—	बाल	भाल	माल
—	राल	लाल	वाल[४]	शाल
	साल	हाल		

इस तालिका के आधार पर /क्/ , /ख्/ , /ग्/ , /घ्/ , /च्/ , /छ/ , /ज्/ , /झ्/ , /ट्/ , /ठ्/ , /ड्/ , /ढ्/ , /त्/ , /थ्/ , /द्/ , /न्/ , /प्/ , /ब्/ , /भ्/ , /म्/ , /र्/ , /ल्/ , /व्/ , /श/ , /स्/ , /ह्/ व्यजन स्वनिम निश्चित हो जाते है।

२२ १ आद्य व्यतिरेको की एक और तालिका ले :—

कार	खार	—	—	
चार	छार[५]	—	झार[६]	
—	—	—	ढार[७]	
तार	—	दार[८]	धार	—
पार	फार[९]	बार	भार	मार
यार	रार	लार	वार	—
	सार	हार		

---

१ उदा० घर घालना।
२. झाबा।
३. उदा० बैठे-ठाले।
४ वाल्व ट्यूब।
५. क्षार।
६ उदा० तेल की झार।
७. ढारना।
८. उदा० मालदार।
९. हल में लगने वाला लोहे का औजार।

इस तालिका के आधार पर हमें उपर्युक्त व्यंजन स्वनिमों के अतिरिक्त /ध्/ , /फ्/ और /य्/ तीन नये व्यजन स्वनिम[1] मिलते है ।

२२·२ अब द्विस्वरान्तर्गत व्यतिरेकों की एक तालिका लें :—

गुणा[2]	गुदा	गुना[3]
गुफा	गुमा	गुहा

यह तालिका चूँकि ऊपर की शब्द-स्थिति से भिन्न स्थिति के व्यतिरेक प्रस्तुत करती है, इसलिए हमें यहाँ एक मतर्कता बरतनी होगी । इसमें जो ध्वनियाँ प्राप्त हुई है, उनमें परस्पर व्यतिरेक अवश्य है[4]; किन्तु ये सारी ध्वनियाँ स्वनिम नही घोषित कर दी जायँगी । यदि इनमें कुछ व्यतिरेक ऐसे है जो हमें आद्य स्थिति में भी मिल चुके है तो हमें उनके बारे में कोई विचार करने की आवश्यकता नहीं है । किन्तु यदि इनमें कोई ध्वनि ऐसी है जो आद्य स्थिति में नही आई थी तो हमें उस पर और विचार करना होगा । इस तालिका में [ण्] एक ऐसी ही ध्वनि है । इसके स्वानिमिक स्तर के सम्बन्ध में दो सभावनाएँ हो सकती है । या तो यह किसी स्वनिम का संस्वन है । इस सभावना की जाँच के लिए हमें यह खोजना होगा कि [ण्] से मिलते-जुलते (स्थान-प्रयत्न-साम्य वाले) स्वनिम कौन-से हैं और उनका परिवेशगत वितरण क्या है । दूसरी सभावना यह हो सकती है कि यह स्वतंत्र स्वनिम हो । पहली सभावना को असत्य सिद्ध करने से ही हमारी दूसरी सभावना सत्य सिद्ध हो सकती है ।

[ण्] से मिलते-जुलते जो स्वनिम अभी तक हमे प्राप्त हुए है, उनमें प्रयत्न-साम्य वाले /न्/ और /म्/ से उसका व्यतिरेक उपर्युक्त तालिका में ही विद्यमान है । स्थान-साम्य वाले स्वनिम /ट्/, /ठ्/, /ड्/ और /ढ्/ है । यदि [ण्] संस्वन हो सकता है तो इन्हीं में से किसी स्वनिम का हो सकता है । गुण-गुट; गणना-गठना से पहले दो

---

१. वास्तव में इन्हें स्वनिम मानने के पूर्व कुछ बातों पर विचार करना पड़ता है । दूसरी तालिका का परिवेश पहली तालिका से भिन्न है क्योंकि पहली तालिका का अन्तिम व्यंजन /ल्/ है जब कि दूसरी का /र्/ है । हमें यह देखना पड़ता है कि कही यह पूरक बटन के कारण न हो । इस संभावना को असत्य सिद्ध करके ही हम इन तीनों ध्वनियों को पृथक्-पृथक् स्वनिम मान सकते हैं । इसके लिए हमें यह सिद्ध करना होगा कि ये तीनों ध्वनियाँ ऐसे शब्दों में भी आती हैं जिनके अन्त में /ल्/ होता है । धूल, फूल और पयाल शब्द इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त हैं ।

२. उदाहरणार्थ, चार का चार से **गुणा** करो ।

३. उदाहरणार्थ, गुणनफल चार का चार **गुना** होगा ।

४. गुफा और गुहा में व्यतिरेक भी नहीं है क्योंकि इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है । यह मुक्त विभेद का उदाहरण है । किन्तु पहली तालिका से /फ्/ और /ह्/ स्वतंत्र स्वनिम सिद्ध हो चुके हैं ।

स्वनिमों की बानि समाप्त हो जाती है। पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी—१ की प्रक्रिया का अनुवर्तन§ करने से यह सिद्ध हो जाता है कि /ण/ एक स्वतंत्र स्वनिम है।

२२ ३ द्विस्वरान्तर्गत स्थितियों के निम्नलिखित उदाहरण भी काम के होंगे :—

गैंडा	—	एक पशु-विशेष
गैंड़ा	—	पालतू पशुओं के गले में बाँधा जाने वाला गंडा
लौंडा	—	लड़का
लौंड़ा	—	लिंग
लौंडिया	—	लड़की
लौंड़िया	—	दासी

इन उदाहरणों से [ड्] तथा [ड़्] का व्यतिरेक प्राप्त होता है। [ड़्] की संभावनाओं पर समग्र विचार करने से यह सिद्ध हो जाता है कि यह एक नया स्वनिम हमें प्राप्त हुआ है।

२२·४ अभी हिन्दी के कई व्यंजन स्वनिम हमें उक्त तालिकाओं से प्राप्त नहीं हुए। स्वर स्वनिमों का विचार हमने किया ही नहीं है। किन्तु स्वनिमों के निर्धारण की प्रारंभिक प्रक्रिया का रूप स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त उदाहरण पर्याप्त हैं।

२२·५ स्वर और व्यंजन स्वनिमों को सम्मिलित रूप से **खंडीय** स्वनिम कहा जाता है। खंडेतर स्वनिमों का विवेचन हम नहीं करेंगे। इनमें वे तत्व भी आते हैं जिन्हें स्वानिकी के अंतर्गत हमने ध्वनि-गुण कहा है। खंडेतर स्वनिमों में प्रमुख हैं :— मात्रा, सुर, बल, विवृत्ति। कई भाषाओं में अनुनासिकता को भी खंडेतर स्वनिम के रूप में ग्रहण किया जाता है।

मर्षस्वानिमी

२३. जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वनिम अर्थ-भेदक तो होते हैं लेकिन उनका अपना कोई अर्थ नहीं होता। भाषा में अर्थ का विशेष महत्त्व है क्योंकि किसी उच्चार का किसी के लिए कोई अर्थ नहीं होगा तो उसे भाषा ही नहीं माना जायगा। भाषा का कार्य यही है कि वह एक व्यक्ति का अभिप्राय दूसरे पर प्रकट कर दे और यह अर्थ की स्थिति के कारण ही संभव होता है। इसलिए अर्थ देने वाली

---

§निडर, सुडौल, निढाल, गणित, शोणित, प्रणाम, गुणाढ्य, गण्य-जैसे उदाहरण खोजने होंगे। 'भाषा के समग्र स्वरूप' पर ध्यान रखने से यह कार्य अधिक नहीं करना पड़ता और शीघ्र ही स्वनिम-निर्धारण हो जाता है। इस कथन का अर्थ स्पष्ट करने की चेष्टा यहाँ नहीं की जायगी और संबंधित नियम पर आश्रित हुए बिना भी यहाँ काम चल जायगा।

इकाई भी भाषा में होनी चाहिए। अर्थ प्रकट कर सकने वाले लघुतम स्वनिम-समूह को हम **मर्ष** कहेंगे।

२४. 'सुन्दरता' शब्द में /स् उ न् द् अ र् त् आ/ स्वनिम है और 'सुन्दरता' शब्द का कुछ अर्थ है। हमें यह देखना है कि यह सारा अनुक्रम अखंड रूप में ही कोई अर्थ दे सकता है अथवा इस अनुक्रम के कुछ ऐसे खंड किये जा सकने है जिनमें अर्थ विद्यमान हो और इसी अर्थ का संयोग उक्त शब्द मे स्थित हो। विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शब्द के अधिक-से-अधिक दो सार्थक खंड किये जा सकते हैं—'सुन्दर' और 'ता' तथा इन दोनों का अलग-अलग जो अर्थ होता है, वही सम्मिलित रूप से 'सुन्दरता' में प्राप्त होता है। अतएव 'सुन्दर' तथा 'ता' दो मर्ष हैं। 'असुन्दरता' में इसी प्रकार तीन मर्ष हैं—अ, सुन्दर और ता।

२५. (क) मंत्री महोदय को चार हार पहनाये गये।
(ख) शत्रु ने अन्ततः हार स्वीकार कर ली।

इन दो वाक्यों में से यदि हम /ह् आ र्/ स्वनिमानुक्रम लें और इस पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि सार्थक रखते हुए इसके और खंड करना संभव नहीं है। किन्तु जहाँ तक अथ का संबंध है, इस स्वनिम-समूह का अर्थ दोनों वाक्यों में भिन्न-भिन्न है। पहले वाक्य में इसका अर्थ है—'माला' और दूसरे में इसका अर्थ है—'पराजय'। इन दोनों अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर है। चूँकि यह अनुक्रम दोनों स्थानों पर दो विभिन्न अर्थ देता है, इसलिए हम इसे दो इकाइयों के रूप में स्वीकार करते हैं। एक ही आकृति होने के बावजूद हम एक /हार्/ को दूसरे /हार्/ से भिन्न एक स्वतन्त्र मर्ष मानते है। भिन्न-भिन्न अर्थ देने वाले एक ही आकृति के रूपों को **एकाभिध** कहा जाता है।

२६. 'करना' और 'करता' में प्राप्त होने वाले स्वनिमानुक्रम /कर्/ का एक ही अर्थ है और इस अनुक्रम के सार्थक खंड नही किये जा सकते, इसलिए /कर्/ एक मर्ष है। 'किया' में /कि/ का अर्थ भी वही है लेकिन यह दूसरा स्वनिमानुक्रम है, इसलिए यह एक दूसरा मर्ष है (क्योंकि इसके भी सार्थक खंड नही किये जा सकते)।

२७. मर्ष में वर्णो की संख्या, उनमें बल अथवा तान की स्थिति और स्थान, स्वर-व्यंजन का क्रम और उनकी संख्या आदि बातों के आधार पर विभिन्न भाषाओं में विभिन्न प्रकार से मर्षों की स्वानिमिक आकृति का सामान्यीकरण किया जा सकता है अर्थात् अनेक मर्षो की आकृति को एक सामान्य रूप की भाँति देखा जा सकता है। इस प्रकार के रूपों को हम **आप्त रूप** कह सकते हैं।

आप्त रूपों की खोज किसी भाषा में इस दृष्टि से उपयोगी होती है कि हम इसके द्वारा यह जान सकते हैं कि उस भाषा में किन-किन निश्चित आप्त रूपों वाले मर्ष प्रयुक्त होते हैं तथा उनमें किन-किन निश्चित आप्त रूपों की अधिकता है।

हिन्दी में स्वर-व्यंजन के आधार पर आप्त रूपों का विश्लेषण उपयोगी है। उसमें मिलने वाले कुछ आप्त रूप निम्नलिखित हैं, जिनमें व्यंजन के लिए ह (हल्) और स्वर के लिए अ (अच्) का प्रयोग हुआ है।

आप्त रूप	मर्ष
अ	आ, ए, ओ
ह	न्, त्, ग्§
ह अ	खा, ले, पी
अ ह	आन, ईख, ऊन
ह अ ह	कह, हँस, सुन
अ ह अ	इला, इड़ा, उमा
ह ह अ	प्र, स्व, श्री
ह ह अ ह	गृह, स्वन, प्रण
ह अ ह ह	यज्ञ, वत्स, लग्न
अ ह अ ह	आकाश, आराम, ईमान
ह अ ह ह अ	मछली, तकली, सुतली
ह ह अ ह ह	स्वप्न, भृत्य, कृष्ण
अ ह ह ह	अर्घ्य
ह अ ह ह ह	बर्स्व
अ ह ह ह अ	ईर्ष्या
ह अ ह अ ह	कुसुम, परम, कमल
ह ह अ ह अ ह	कृपण, वृषभ,

२८. जब एकाधिक मर्ष एक-दूसरे से संयोजित करके रखे जाते हैं, तब उनकी आकृति में कुछ परिवर्तन आ सकता है। इस प्रकार हुए परिवर्त्तनों को **मर्ष-स्वानिमिक परिवर्त्तन** कहते हैं। एक ही मर्ष की आकृति में काल-क्रम से जो परिवर्तन आ जाता है, उसे भी मर्षस्वानिमिक परिवर्तन कहा जाता है। मर्षस्वानिमिक परिवर्त्तनों में इस प्रकार ऐसे परिवर्त्तन सम्मिलित हैं जो ऐतिहासिक हैं और वे भी सम्मिलित हैं जो परिवेश-वश हो जाते हैं। कुछ परिवर्तन लिखित रूप से स्वीकार कर लिये गये हैं; कुछ परिवर्त्तन केवल उच्चरित भाषा में मिलते हैं, लिखित रूप में नहीं आते। कभी-कभी एक ही अविकल्प रूप मिलता है, कभी-कभी विकल्प भी प्राप्त होते हैं।

---

§करना=कर्+न्+आ   करने=कर्+न्+ए
करता=कर्+त+आ   करते=कर्+त्+ए
होगा =हो+ग्+आ   होगी=हो +ग्+ई

नीचे कुछ मुख्य-मुख्य मर्षस्वानिमिक परिवर्त्तनों का उल्लेख किया जायगा।

२९. कभी-कभी एक स्वनिम दूसरे स्वनिम के उच्चारण स्थान अथवा/और प्रयत्न को अपने समान बना लेता है। यह समानता पूर्ण अथवा आंशिक हो सकती है। इस परिवर्त्तन को **संरूपण** कहा जाता है। यदि परवर्त्ती स्वनिम प्रभाव डालता है और पूर्ववर्त्ती स्वनिम का रूप बदलता है तो उसे **पूर्वरूपण** कहा जाता है। इसके विपरीत यदि पूर्ववर्त्ती स्वनिम प्रभाव डालता है और परवर्त्ती स्वनिम का रूप बदलता है तो उसे **पररूपण** कहते है। यदि प्रभाव डालने वाले और प्रभावित होने वाले स्वनिम पास-पास होते हैं, उनके बीच में और कोई स्वनिम नहीं होते तो इस प्रकार हुआ संरूपण **संसक्त** संरूपण कहा जाता है। इसके विपरीत यदि उक्त दोनों स्वनिमों के बीच और कोई स्वनिम विद्यमान रहता है तो इस प्रकार होने वाला संरूपण **असंसक्त** होता है।

२९·१ संसक्त पूर्वरूपण :—

धर्म	>	धम्म
शर्करा	>	शक्कर
डाकघर	>	डाग्घर
आधसेर	>	आस्सेर
सबका	>	सप्का
आग की	>	आक्की
लब सी लेंगे	>	लप्सी लेंगे

२९·२ असंसक्त पूर्वरूपण :—

*पे̭न्क्वे	>	क्विन्क्वे (लैटिन)
*इक्षु	>	उक्खु
*अँगुली	>	उँगुली

२९·३ ससक्त पररूपण :—

चुम्बन	>	चुम्मा
अम्बा	>	अम्मा
पक्व	>	पक्का
चक्र	>	चक्क (>चाक)
चुनरी	>	चुन्नी
कम्बल	>	कम्मरु (अवधी)
लम्बा	>	लम्मा (भोजपुरी)
जल्दी	>	जल्ली§

---

§यह उच्चारण डॉ० रविशंकर दीक्षित का है।

२६·४ असंसक्त पररूपण :—

*रामेन	>	रामेण
*पुष्पानि	>	पुष्पाणि
नौबत	>	नौमति (बैंसवाड़ी)

२६·५ यदि दो स्वनिम एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए समाप्त हो जायँ और एक तीसरे ही स्वनिम को जन्म दे दें जिसमें उन दोनो के थोड़े-थोड़े लक्षण मौजूद हो, तो इस प्रकार के संरूपण को **संरोहण** कहा जाता है। अँगरेजी का 'पिक्चर' शब्द इसका उदाहरण है जिसका उच्चारण पहले कभी वर्त्तनी के अनुसार अवश्य ही 'पिक्च्यूर' रहा होगा। 'डोण्ट यू' का उच्चारण 'डोञ्चू' भी इसका उदाहरण है।

३०. यदि दो मिलते-जुलते स्वनिमों में से एक अपेक्षाकृत भिन्न हो जाता है तो इस प्रकार के परिवर्तन को **विरूपण** कहते हैं। उदाहरणार्थ :—

*भेन्ध	>	बन्ध् (संस्कृत)
*थ्रिख्स	>	थ्रिक्स (ग्रीक)
*थ्रिखोस	>	त्रिखोस (,,)
लांगल (संस्कृत)	>	नांगल (प्राकृत)
मार्बुर (मध्य इंग्लिश)	>	मार्बुल (इंग्लिश)
पेरेग्रीनस (लैटिन)	>	पेलेग्रिनो (इटैलियन)
सप्तमी	>	सत्तिमी§
लिटल	>	लिटर
प्रसन्न	>	परसन्द (बैंसवाड़ी)

३१. कभी-कभी किसी मर्ष के दो स्वनिमो का स्थान बदल जाता है। इस परिवर्त्तन को **विपर्यय** कहा जाता है। उदाहरणार्थ :—

डूब	>	बूड़
गृह	>	घर
अम्लिका	>	इमली
चिह्न	>	चिन्ह
अँगुली	>	उँगली
सिग्नल	>	सिगल
लखनऊ	>	नखलऊ
हनाबु	>	नहाबु
गरदा	>	रगदा
बीमार	>	बेराम

मर्षविज्ञान

३२. सामान्यतः व्याकरण के दो अंग होते है :—१. मर्षविज्ञान और २.

§ स्वर-परिवर्तन से अभिप्राय है।

वाक्यविज्ञान। भाषा की व्याकरणिक उपव्यवस्था का परिचय इन्हीं दो शीर्षकों के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् दिया जायगा। मोटे तौर पर, **मर्षविज्ञान** में शब्दों के गठन का अर्थात् उनके संघटक तत्त्वों का विवेचन किया जाता है। व्याकरण के दूसरे अंग **वाक्यविज्ञान** में शब्दों के व्यवहार का अर्थात् वाक्यों-वाक्यांशों के संघटक तत्त्वों का विवेचन होता है। पहले हम मर्षविज्ञान पर विचार करेंगे। किसी भाषा के मर्ष-विज्ञान और उसकी मर्षस्वानिमी के अनुसन्धान और निर्धारण की प्रक्रिया **मार्षिमी** कहलाती है।

३३. जिस प्रकार स्वानिमी की आधारभूत इकाई स्वनिम है, उसी प्रकार मर्षविज्ञान की आधारभूत इकाई मर्षिम है। जिस प्रकार स्वनिम कुछ स्वनों का भावानयन होता है, उसी प्रकार मर्षिम कुछ मर्षों का भावानयन होता है। जिस प्रकार स्वयं कोई स्वन न होते हुए भी प्रत्येक स्वनिम को किसी-न-किसी स्वन के रूप में ही प्रकट होना पड़ता है, उसी प्रकार स्वयं कोई मर्ष न होते हुए भी प्रत्येक मर्षिम को किसी-न-किसी मर्ष के रूप में ही प्रकट होना पड़ता है। मर्षस्वानिमी का विचार करते समय हमने कुछ इस प्रकार की धारणा बन जाने का अवसर दिया है जैसे कि शब्द की रचना मर्षों से ही हो जाती हो। वास्तव में यह धारणा यथार्थ नहीं है। कार्यकारिता की दृष्टि से मर्षिम मर्षों की अपेक्षा उसी प्रकार अधिक यथार्थ हैं जिस प्रकार स्वनों की अपेक्षा स्वनिम। विभिन्न शब्दों को ग्रहण करते समय हमारा ध्यान उनके मर्षिमों की ओर रहता है। **मर्षिम** लघुतम अर्थयुक्त इकाई है; किन्तु वह अर्थ की इकाई नहीं है। उसका संबंध भाषा के रूप-पक्ष से भी है और अर्थ-पक्ष से भी। इस परिभाषा में यह बात ध्यान देने की है कि हमने मर्षिम को 'इकाई' भर कह दिया है; उस 'इकाई' का स्वरूप नहीं स्पष्ट किया। हमने उसे स्वनिम-समूह आदि भी नहीं कहा है। यह आवश्यक और साभिप्राय है।

३४. निम्नलिखित सारणी पर विचार करिए :—

करना	किया	कीजिए, करिए
लेना	लिया	लीजिए
देना	दिया	दीजिए
पीना	पिया	पीजिए
होना	हुआ	हूजिए, होइए

इस सारणी के तीनों स्तंभों के मर्षों का विश्लेषण इस प्रकार होगा :—

कर्—न्—आ	कि—या	की—जिए, कर्—इए
ले—न्—आ	लि—या	ली—जिए
दे—न्—आ	दि—या	दी—जिए
पी—न्—आ	पि—या	पी—जिए
हो—न्—आ	हु—वा	हू—जिए, हो—इए

यदि प्रत्येक शब्द का पहला मर्ष लें, तो कुल मर्ष चौदह होंगे :—

एक.	१) कर्	२) कि	३) की,—
दो.	४) ले	५) लि	६) ली
तीन.	७) दे	८) दि	९) दी
चार.	१०) पी	११) पि	—
पाँच.	१२) हो	१३) हु	१४) हू,—

लेकिन जैसा कि स्पष्ट है, प्रत्येक पंक्ति के मर्ष कार्यकारिता की दृष्टि से परस्पर भिन्न नहीं हैं, वे एक ही इकाई के रूप में कार्य करते हैं। प्रत्येक हिन्दीभाषी पहली पंक्ति के पहले तीनों मर्षों को एक ही इकाई के विभिन्न रूप समझता है। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति के तीनों मर्ष एक ही इकाई के विविध रूप समझे जाते हैं। तीसरी, चौथी और पाँचवीं पंक्तियों की स्थिति भी यही है। जब हम किन्हीं मर्षों के लिए कहते हैं कि ये एक ही इकाई के विविध रूप हैं तब हम जिस 'इकाई' का उल्लेख करते हैं, वह मर्षिम होता है। इस प्रकार इन पाँच पंक्तियों से हमें पाँच मर्षिम प्राप्त होते हैं। मर्षिमों को { } के बीच लिखने की परम्परा है। चूँकि मर्षिम सदैव किसी मर्ष के रूप में प्रकट होता है, इसलिए संबंधित मर्षों में से किसी एक को **आधार रूप** मान लिया जाता है और मर्षिम का द्योतन करने के लिए उसे ही लिखा जाता है। अन्य मर्ष उस आधार रूप के **विभेद** कहे जाते हैं। उपर्युक्त पाँच मर्षिम निम्नलिखित हैं :—

एक.	{कर्}
दो.	{ले}
तीन.	{दे}
चार.	{पी}
पाँच.	{हो}

३४·१ जितने मर्ष किसी मर्षिम के सदस्य होते हैं, वे उस मर्षिम के **संमर्ष** कहे जाते हैं। उपर्युक्त मर्षिमों के सारे संमर्ष ऐच्छिक रूप से प्रत्येक परिवेश में आ सकने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं। उदाहरणार्थ, दूसरे स्तंभ में मिलने वाले संमर्षों का प्रयोग पहले और तीसरे स्तंभों के संमर्षों के स्थान पर किया जाय तो हमें निम्नलिखित रूपों के लिए तैयार रहना चाहिए :—

*किना	*किजिए
*लिना	*लिजिए
*दिना	*दिजिए
*पिना	*पिजिए
*हुना	*हुजिए

लेकिन ये रूप हमारी भाषा मे प्राप्त नही होते और न हम इन्हें स्वीकार करने के लिए तैयार होंगे। /-ना/के पहले हमें /कर्-/, /ले-/, /दे-/, /पी-/ और /हो-/ संमर्षों का ही प्रयोग करना पड़ेगा। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे स्तंभों में भी निश्चित संमर्षों का ही प्रयोग संभव है। किसी मर्षिम के संमर्षों का इस प्रकार का वितरण कि जिस परिवेश में एक संमर्ष आए, उसमें कोई दूसरा न आ सके, **पूरक बंटन** कहलाता है। उपर्युक्त उदाहरण पूरक बंटन के हैं।

हिन्दी में /लड़क्-/ और /लड़्क्/मर्ष एक ही मर्षिम के संमर्ष हैं। यदि इस मर्षिम के बाद कोई ऐसा मर्ष आए जिसका आद्य स्वनिम व्यंजन हो तो पहले संमर्ष का प्रयोग होता है। दूसरा संमर्ष ऐसे मर्ष के पहले प्रयुक्त होता है जिसका आद्य स्वनिम स्वर हो। इन दोनों के वितरण में परिवेश का अन्तर रहता है, अतएव यह भी पूरक बंटन का उदाहरण है।

अंगरेजी में निम्नलिखित सारणी लीजिए:—

स्टिक्स	बैग्ज़	किसे़ज़	
बैट्स	किड्ज़	इंचे़ज़	
लिप्स	निब्ज़	बैजे़ज़	ऑक्सन

इन शब्दों में दो-दो मर्ष हैं। सभी शब्दों के अन्त में मिलने वाले मर्ष एक ही मर्षिम के संमर्ष हैं और वह मर्षिम बहुवचन का है, जिसे हम चाहें तो { -ज़् } के रूप में लिख सकते हैं। इसके विभिन्न संमर्ष और केवल उपर्युक्त शब्दों के आधार पर उन संमर्षों का वितरण इस प्रकार है:—

/-स्/ अघोष व्यंजनों के बाद।
/-ज़्/ सघोष व्यंजनों के बाद।
/-एज़्/ संघर्षियों तथा स्पघर्षों के बाद।
/-अन्/ 'ऑक्स' शब्द के बाद।

इस भाँति इनके वितरण में परिवेश-भेद विद्यमान रहता है, इसलिए यह भी पूरक बंटन का उदाहरण है।

३४·२ ऊपर दी हुई पहली सारणी के तीसरे स्तंभ में दो रूप ऐसे हैं जिनमें विकल्प संभव है। ये हैं 'कीजिए—करिए'§ और 'हूजिए—होइए'§। इनसे यह पता चलता है कि { -इए } मर्षिम के पहले { कर् } और { हो } के दो-दो संमर्ष

---

§यहाँ यह मान लिया गया है कि इन युग्मों में परस्पर अर्थ-भेद नहीं है। वैसे, मुझे इनमें कुछ भेद अनुभव होता है। मुझे पहले रूप अधिक सम्मानप्रद प्रतीत होते हैं। यदि इनमें थोड़ा सा अर्थ-भेद मान लिया जाय तो इसके समाधान के दो विकल्प हैं। उनमें से एक यही है कि ये संमर्ष ही हैं और नाइडा के शब्दों मे 'संमर्षों तक में अर्थ-भेद के उदाहरण मिलते हैं।'

स्वेच्छानुसार वैकल्पिक रूप से आ सकते हैं। { -इए } के दो संमर्ष /-इए/ और /-जिए/ अपने पूर्ववर्त्ती संमर्ष के अनुसार प्रयुक्त होते हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि { -इए } के दो संमर्षों के प्रयोग के अनुसार पूर्ववर्ती मर्षिम के संमर्षों का चुनाव होता है। दो मर्षिमों में से किसी के किसी एक संमर्ष का चुनाव हो जाने से यह तय हो जाता है कि दूसरे मर्षिम का कौन-सा संमर्ष प्रयुक्त होगा।

{ कर् } और { -इए } मर्षिमों में से यदि { कर् } का /की-/ संमर्ष चुन लिया जाय तो { -इए } का /-जिए/ संमर्ष प्रयुक्त होगा अथवा { -इए } का /-जिए/ संमर्ष चुन लिया जाय तो { कर् } का /की-/ संमर्ष ही व्यवहृत होगा। इसी प्रकार { हो } और { -इए } के संयोग में यदि /हू-/ संमर्ष चुना जाय तो /-जिए/ संमर्ष लेना पड़ेगा अथवा /-जिए /संमर्ष चुन लिया जाय तो /हू-/ संमर्ष का व्यवहार करना पड़ेगा।

इसी तरह /कर्-/ का चुनाव करने से /-इए/ अथवा /-इए/ का चुनाव करने से /कर्-/ आवश्यक हो जाता है। /हो-/ का चुनाव करने से /-इए / अथवा /-इए/ का चुनाव करने से /हो-/ आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार किसी मर्षिम का एक संमर्ष चुन लेने पर दूसरे मर्षिम का कौन-सा संमर्ष प्रयुक्त होगा यह तो निश्चित हो जाता है; किन्तु जैसा कि स्पष्ट है, एक मर्षिम के संयोग में दूसरा मर्षिम कौन-सा संमर्ष प्रयुक्त करे—यह पूर्णत: ऐच्छिक होता है। { -इए } मर्षिम के संयोग में आने पर { कर् } के दो संमर्षों में से किसी का भी प्रयोग किया जाता है। { -इए } के संयोग में { हो } के दो संमर्षों में से किसी का भी व्यवहार संभव है। दूसरी ओर से कहें तो { कर् } और { हो } के संयोग में { -इए } के दो संमर्षों में से किसी का भी प्रयोग संभव है। इस प्रकार, किसी मर्षिम के संमर्षों का इस प्रकार का वितरण कि जिस परिवेश में एक संमर्ष आता हो, उसमें दूसरा भी आ सकता हो, **मुक्त विभेद** कहलाता है। उपर्युक्त उदाहरण मुक्त विभेद के हैं। हिन्दी में 'किन्तु, परन्तु, पर, लेकिन, मगर' सामान्यत:§ मुक्त विभेद के उदाहरण हैं।†

३४·३ यदि एक व्यक्ति सदैव एक संमर्ष का प्रयोग करता हो और दूसरा उसके स्थान पर सदैव दूसरे संमर्ष का प्रयोग करता हो तो यह मुक्त विभेद **द्विमर्ष** का उदाहरण है। हिन्दी में 'प्रकट-प्रगट', 'ठंडक-ठंढक', 'बंटाढार-बंटाधार' और अँगरेजी में 'डिरेक्ट-डाइरेक्ट' तथा 'क्लैस-क्लास' आदि द्वैमर्षिक मुक्त विभेद के उदाहरण हैं।

---

§किसी-किसी प्रसंग में पूरक बंटन होता है। उदा० 'मुझसे अगर-मगर न करो!' में 'मगर' ही आ सकता है। शैली-भेद में भी इनका चयन सहायक होता है। इनमें कई द्वैमर्षिक मुक्त विभेद के उदाहरण हो सकते हैं।

†सामान्यत: इन्हें पर्याय कहा जाता है।

३५. शब्द में किसी मर्षिम का क्या स्तर है और वाक्य-व्यवहार की दृष्टि से उसकी क्या स्थिति है, इस प्रकार की बातों का विचार **मर्षिम-बंटन** के नाम से किया जा सकता है ।

३५·१ इस दृष्टि से एक उपयोगी वर्गीकरण है—धातु, प्रातिपदिक और प्रत्यय का । किसी शब्द का मूल अर्थवाही तत्त्व **धातु** कहलाता है । उदा० हिन्दी में सुन्दर, देव, पंडित आदि तथा अँगरेजी में बर्ड, लाइट, ईट आदि । धातु, धातु-समूह अथवा धातु-प्रत्यय के ऐसे अनुक्रम को **प्रातिपदिक** कहा जाता है जिसमें प्रत्ययों का योग होना हो । उदा० सुन्दर (सुन्दर-ता), देव (देव-त्व), पंडित (पंडित-आई) ब्लैकबर्ड (ब्लैकबर्ड-ज), एन्लाइटेॖन (एन्लाइटॖ़ेन-ड), ईट (ईट-अर) आदि । इनमें जुड़ने वाले गौण तत्त्व **प्रत्यय** कहे जाते हैं । शब्द में अपने स्थान के अनुसार प्रत्यय तीन प्रकार के होते है :—

धातु के पहले जुड़ने वाले प्रत्ययों को हम **पूर्वप्रत्यय** कहेगे, जिनके लिए सामान्यतः उपसर्ग शब्द का प्रयोग किया जाता है । उदा० सु- (सुबोध), कु- (कुमति), प्र- (प्रख्यात), अभि- (अभिभाषण), उत्- (उत्क्षेप), अप- (अपसरण) आदि । अँगरेजी में प्री- (प्रीफ़िक्स) एन्- (एनरिच) आदि । धातु के अन्त में जुड़ने वाले प्रत्ययों को हम **परप्रत्यय** कहेंगे । उदा० -ता (सुन्दरता), -त्व (देवत्व), -आई (पडिताई) आदि । अँगरेजी में -नेॖस (काइण्डनेॖस), -डम (विज़डम), -शिप (लार्डशिप) आदि । धातु के मध्य में जुड़ने वाले प्रत्ययों को **अन्तर्प्रत्यय** कहा आता है । उदा० कोर्कू में -प्- जो 'परस्पर' या 'बहुवचन' का अर्थ देता है । उदाहरणार्थः—

गोज्—'मारना' गोपोज—'एक-दूसरे को मारना'
खाड—'बड़ा' 'खापेॖड'—'बड़े'

३५·२ वाक्य-व्यवहार की क्षमता के आधार पर मर्षिमों अथवा मर्षिमानुक्रमों को मुक्त तथा बद्ध दो वर्गों में रक्खा जा सकता है । **मुक्त रूप** और किसी मर्षिम से संयुक्त हुए बिना वाक्य में या वाक्य के रूप में प्रयुक्त हो सकने में समर्थ होते हैं । उदा० सुन्दर, लघु, आज, सब । अँगरेजी में ऐक्ट, क्लॉक, निब, टाइम आदि । **बद्ध रूप** और किसी मर्षिम से सयुक्त हुए बिना नही व्यवहृत हो सकते । उदा० –ता, –त्व, –आई, सु–, कु–, अभि– तथा अँगरेजी मे प्री–, –नेॖस, –डम, –शिप आदि ।

३६. प्रातिपदिकों में जुड़ने वाले प्रत्ययों के आधार पर तथा/अथवा वाक्य में उनके व्यवहार के आधार पर प्रत्येक भाषा में प्रातिपदिकों के कुछ वर्ग बनाये जा सकते हैं जिन्हें हम **वाग्भाग** कहेंगे । वाग्भागों के लिए वैकल्पिक रूप से प्रयुक्त होने वाला शब्द है—**मर्षवैज्ञानिक कोटियाँ** । एक वाग्भाग के अन्तर्गत आने वाले प्रातिपदिक गठन और/या व्यवहार की दृष्टि से बहुत-कुछ मिलते-जुलते होते है । नीचे

कुछ बहुप्रचलित वाग्भागों का परिचय दिया जायगा। प्रातिपदिकों के स्थान पर हम पूरे शब्दों का उल्लेख करेंगे; क्योंकि इससे निष्कर्षों में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

३६·१ हिन्दी में बहुत से प्रातिपदिक निम्नलिखित सरणियों में आते हैं :—

(क)

लड़का	लड़के	लड़कों	लड़को
घोड़ा	घोड़े	घोड़ों	घोड़ो
बन्दर	बन्दर	बन्दरों	बन्दरो
साथी	साथी	साथियों	साथियो

(ख)

लड़की	लड़कियाँ	लड़कियों	लड़कियो
नदी	नदियाँ	नदियों	नदियो
किताब	किताबें	किताबों	किताबो
लता	लताएँ	लताओं	लताओ

इस प्रकार की सरणियों वाले वाग्भाग को **संज्ञा** कहा जाता है।

३६·२ निम्नलिखित रूपों का भेद पहले वाले रूपों से द्रष्टव्य है, यद्यपि इनमें परस्पर कुछ साम्य भी है।

मैं	मुझ	मे	हम	हमा
तू	तुझ	ते	तुम	तुम्हा
वह	उस	उस	वे, उन	उन

ये रूप जिस कोटि के अन्तर्गत आते हैं, उसे **सर्वनाम** कहा जाता है। व्यवहार की दृष्टि से भी इसमें संज्ञा से भेद है। संज्ञापदों के पूर्व विशेषणों का प्रयोग होता है, सर्वनामों के पूर्व नहीं।

३६·३ कुछ प्रातिपदिकों की सरणियाँ इस प्रकार की बनती हैं :—

(क)

अच्छा	अच्छे	अच्छी
काला	काले	काली
थोड़ा	थोड़े	थोड़ी

(ख)

सुन्दर
बढ़िया
स्वादिष्ठ

इन दोनों समूहों में सरणियों की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है, लेकिन व्यवहार की दृष्टि से इनमें साम्य है। उदाहरणार्थ:—

अच्छा/काला/थोड़ा/सुन्दर/बढ़िया/स्वादिष्ठ गुड़ ।
अच्छे/काले/थोड़े/सुन्दर/बढ़िया/स्वादिष्ठ पेड़े ।
अच्छी/काली/थोड़ी/सुन्दर/बढ़िया/स्वादिष्ठ बरफी ।

इस वाग्भाग के लिए **विशेषण** शब्द का प्रयोग होता है ।

३६·४ **क्रियाविशेषण** नामक वाग्भाग में आने वाले शब्दों के गठन में प्रायः एक ही साम्य मिलता है और वह यह कि उनकी सरणियाँ नहीं चलतीं और ये शब्द अधिकतर अव्यय होते है। व्यवहार-साम्य इनके वर्गबद्ध होने का आधार है। उदाहरणार्थ :—

राम (यहाँ) आया था ।
(कब)
(क्यों)
(नहीं)
(ऊपर)

३६.५ **परसर्ग** भी एक इस प्रकार का वाग्भाग है जिसमें गठन के स्थान पर व्यवहार से अधिक सहायता मिलती है। परसर्गो की सरणियाँ नहीं-सी होती हैं; क्योंकि अधिकांश परसर्ग भी अव्यय होते हैं। हिन्दी के परसर्गों में पर्याप्त वैविध्य मिलता है, किन्तु उनका एक सामान्य लक्षण है मुख्य अर्थवाही शब्दों (संज्ञा, सर्वनाम) के बाद आना और उन पर आश्रित होना । उदा० में, को, पर, से, ओर ।

३६.६ **संयोजक** नामक वाग्भाग के अन्तर्गत आने वाले शब्द भी अव्यय होते हैं। ये दो वाक्यों, वाक्यांशों या शब्दों के बीच में आकर उन्हें संबद्ध करते हैं। उदा० और, तथा, किन्तु, मगर, ताकि, कि ।

३६·७ **आवेगी** वाग्भाग में मनोभावाभिव्यंजक अव्यय आते हैं जो व्यवहार की दृष्टि से वाक्य में सम्मिलित नहीं होते, उससे अलग रहते हैं अथवा वाक्य के स्थान पर स्वतः अकेले प्रयुक्त होते हैं । उदा० अहा !, अरे !, छिः !

३७. कई वाग्भागों के अन्तर्गत आने वाले प्रातिपदिकों को प्रयोग का व्याकरणिक सामर्थ्य अर्जित करने के लिए कुछ वर्गबद्ध बंधन स्वीकार करने पड़ते हैं। ये बंधन **व्याकरणिक कोटियाँ** हैं । प्रत्येक भाषा में व्याकरणिक कोटियाँ होती हैं और अन्य भाषाओं की तुलना में थोड़ी-बहुत भिन्न भी होती हैं । संसार की सारी भाषाओं को लें तो उनकी व्याकरणिक कोटियों में बड़ी विविधता मिलती है । हिन्दीभाषियों की कुछ सुविदित व्याकरणिक कोटियों का परिचय यहाँ दिया जायगा ।

३७·१ **लिंग** नामक व्याकरणिक कोटि संज्ञाओं में बहुत व्यापक रूप से पाई जाती है । लिंग से तात्पर्य यहाँ नर-मादा आदि भेदों से नहीं है; बल्कि एक भाषायी तत्त्व से है। यदि किसी भाषा में पुंल्लिंग पाया जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि पुरुषों के लिए ही इस लिंग का प्रयोग संभव है । फिर भी नर का द्योतन करने

वाले शब्द प्राय: पुल्लिग में और मादा का द्योतन करने वाले शब्द प्राय: स्त्रीलिग में जाते है, इतना अवश्य देखा गया है। अचेतन पदार्थों पर भी इन लिंगों का आरोप किया जाता है, यह एक अलग बात है। किन्तु लिग केवल दो ही नहीं होते। कुछ भाषाओं में एक दर्जन से अधिक लिग होते हैं। हिन्दी में दो लिग होते है :—स्त्रीलिग और पुल्लिग। कुछ शब्दों में लिग-द्योतन के लिए किसी मर्फिम का योग करना पड़ता है। लिग अथवा जिस किसी व्याकरणिक कोटि में यह प्रवृत्ति मिलती है, उसे **रूपायित कोटि** कहा जाता है। हिन्दी में स्त्रीलिग के द्योतन के लिए /-ई/, /-आ/ आदि का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ:—

/लड़क्/ + /-ई/ =लड़की
/घोड़्/ + /-ई/ =घोड़ी
/बाल्/ + /आ/ =बाला
/बालक्/ + /-इ…आ/§ =बालिका

जिस व्याकरणिक कोटि के द्योतन के लिए किसी मर्फिम का योग नहीं करना पड़ता, प्रातिपदिकों को अपरिवर्तित रूप में ही उस व्याकरणिक कोटि के अन्तर्गत मान लिया जाता है; उसे **चयनात्मक कोटि** कहते हैं। हिन्दी में कुछ शब्द† इसी प्रवृत्ति के हैं। उदाहरणार्थ:—

पुंल्लिग	स्त्रीलिग
कोट	चोट
घाव	नाव
ग्रंथ	पुस्तक
पाँव	टाँग
कान	नाक

वाक्य-व्यवहार में हिन्दी का लिंग कुछ विशेषणों तथा क्रियाओं को प्रभावित करता है। उदा० 'अच्छा घोड़ा गया' किन्तु 'अच्छी घोड़ी गई।'

संस्कृत में तीन लिंग थे :—पुंल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। उदाहरणार्थ:—

---

§/-इ…आ/ स्त्रीलिंग-द्योतक मर्फिम ही नहीं है; इसका प्रयोग स्त्रीलिंग रूपों के साथ आकार की लघुता दिखाने के अर्थ में भी होता है। उदा० पुस्तक—पुस्तिका। यह उल्लेखनीय है कि पुल्लिग-स्त्रीलिग के युग्मों में बड़े-छोटे आकार के द्योतन के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। इसलिए /-इ…आ/ के ये दोनों कार्य उसे दो मर्फिम नहीं बनाते, एक ही मर्फिम बनाते हैं।

†यदि किसी कोटि के थोड़े शब्द भी रूपायित हों तो वह रूपायित कोटि हो जाती है। हिन्दी में /घोड़्/, /लड़क्/- जैसे प्रातिपदिक अपना अर्थ देने के अतिरिक्त पुंल्लिग कोटि में जाते हैं, अत: पुंल्लिग हिन्दी संज्ञाओं में चयनात्मक कोटि है।

एकः	बालकः	आगतः ।	(पुल्लिग)
एका	बालिका	आगता ।	(स्त्रीलिंग)
एकं	फलम्	आगतम् ।	(नपुंसक लिग)

रूसी भाषा मे भी यही तीन लिग है । उदाहरणार्थः—

पुन्लिग—उचेन्यीक (शिष्य), उचेब्नियक (पाठ्यपुस्तक) ।

स्त्रीलिग—स्येस्त्रा (बहन), रूच्का (कलम) ।

नपुंसक लिग—स्लोवो (शब्द), म्येस्तो (स्थान) ।

वाक्य में इनका प्रभाव भी विशेषण तथा क्रिया पर पडता है । उदाहरणार्थः—

मोय झुर्नाल प्रिशोल (पुल्लिग) 'मेरा अखबार आया' ।

मया क्नयीगा प्रिश्ला (स्त्रीलिग) 'मेरी किताब आई' ।

मयो मास्लो प्रिश्लो (नपुंसक लिग) 'मेरा मक्खन आया' ।

कोर्कू मे दो लिग है :—चेतन, अचेतन । चेतन लिग वाले शब्दो का रूपायन वचन के लिए होता है, अचेतन लिग वाले शब्दों का रूपायन नही होता। उदाहरणार्थ :—

म्याँ सीता	'एक कुत्ता'	म्याँ माड	'एक बाँस'
बरी सीताकीञ््	'दो कुत्ते'	बरी माड	'दो बाँस'
आफय सीताकू	'तीन कुत्ते'	आफय माड	'तीन बाँस'

३७·२ **वचन** नामक व्याकरणिक कोटि का सबध सख्या से है और भाषायी कार्यविधि के अतिरिक्त इसमें वस्तुत. सख्या का निर्वाह भी अधिकतर मिलता§ है। हिन्दी और अँगरेजी मे दो वचन मिलते है—एकवचन तथा बहुवचन । उदाहरणार्थ,

(हिन्दी) लड़का—लड़के; लडकी—लडकियाँ; लता—लताएँ

(अँगरेजी) कैट—कैट्स; डॉग—डॉग्ज; ऑक्स—ऑक्सन

सस्कृत और कोर्कू मे तीन वचन मिलते है :—एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन । उदाहरणार्थः—

(संस्कृत) राम :—रामौ—रामा.; फलम्—फले—फलानि

(कोर्कू) पोट्टा—पोट्टाकीञ्—पोट्टाकू; कोन—कोनकीञ्—कोनकू

कुछ भाषाओं में चार वचन भी मिलते है —एकवचन, द्विवचन, त्रिवचन अथवा अल्पवचन, तथा बहुवचन ।

३७·३ **पुरुष** सर्वनामों में मिलने वाली कोटि है, जिसका अनुवर्त्तन क्रिया को करना होता है । पुरुष तीन होते है—उत्तम पुरुप, मध्यम पुरुष, अन्य पुरुष ।

---

§सदैव ऐसा नही होता। उदाहरणार्थ.—'उनके पास बडा पैसा था ।' 'वहाँ हजारो आदमी था ।' 'रमेश चले गये ।'

उत्तम पुरुष :—मैं, हम

मध्यम पुरुष :—तू, तुम

अन्य पुरुष :—वह, वे, आप

हिन्दी में 'हम' का प्रयोग वक्ता अकेले अपने लिए भी करता है, किन्तु इसे 'एकवचन' नहीं कहना चाहिए। गठन की दृष्टि से वह बहुवचन ही रहता है। 'वचन' भाषा की वस्तु है, वस्तु-जगत् की नहीं। इसलिए हम केवल इसका अर्थ बताते हुए यह कह सकते हैं कि "उत्तम पुरुष बहुवचन सर्वनाम एक व्यक्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है और एकाधिक व्यक्तियों के लिए भी। यदि यह संशय मिटाना हो तो एक व्यक्ति को उत्तम पुरुष एक वचन सर्वनाम **मैं** का प्रयोग करना चाहिए और एकाधिक व्यक्तियों को **एकाधिक व्यक्तियों** का अर्थ देने वाले शब्दों का योग करके भ्रम समाप्त करना चाहिए।" इस प्रकार अर्थगत स्थिति को निम्नलिखित रूप में दिखाया जा सकता है :—

१.	मैं जाऊँगा	उत्तमपुरुष	एकवचन	एक व्यक्ति
२.	हम जाएँगे	,,	बहुवचन	एक व्यक्ति अथवा एकाधिक व्यक्ति
३.	हम लोग / हम सब / हम दोनों } जाएँगे	,,	,,	एकाधिक व्यक्ति

व्याकरणिक दृष्टि से 'हम' तथा 'हम लोग' (आदि) में भेद करना सर्वथा अनर्गल है क्योंकि गठन का कोई भेद इनकी वाक्य-रचना में नहीं मिलता। दोनों ही वाक्यों में ऊपर 'जाएँगे' क्रिया का प्रयोग हुआ है।

मध्यम पुरुष में एकवचन तथा बहुवचन के रूप 'तू' और तुम' हैं। गठन की दृष्टि से 'तुम' सदैव बहुवचन है, इसलिए इसका व्याकरणिक वर्णन अविकल्प रूप से यही होना चाहिए। अर्थ की दृष्टि से 'तुम' की स्थिति भी पूर्णतः 'हम'-जैसी है और यहाँ भी भ्रान्ति मिटाने की वही पद्धति अपनाई जाती है। एक और अन्तर यह है कि 'तू' का प्रयोग असम्मान§ में ही होता है और वह भी कभी-कभी, कहीं-कहीं।

---

§यह असम्मान प्रसंगानुसार अपमान भी होता है और अ-सम्मान तो वह है ही। एक उल्लेखनीय बात यह है कि सम्मान के लिए (उत्तम पुरुष को छोड़कर) बहुवचन रूपों का प्रयोग ही होता है। यह प्रवृत्ति संज्ञाओं में भी मिलती है। ऐसी संज्ञाओं से संबद्ध क्रियाएँ तो सदैव बहुवचन में होती ही हैं; किन्तु अधिकतर ये संज्ञाएँ स्वयं भी बहुवचन के लिए रूपायित होती हैं। उदा० तुमने इनको पहचाना नहीं ? ये उमेशचन्द्र जी हैं : सुरेशचन्द्र जी के लड़के ('लड़का' नहीं)।

किन्तु एक-दो उदाहरण ऐसे भी हैं जहाँ संज्ञा स्वयं एकवचन की रहती है। उदा० ये उनकी माता ('माताएँ' नहीं) हैं। भाषा की उपर्युक्त प्रकार की भ्रान्ति

'वह', 'वे' लिखित रूप में अन्य पुरुष के एकवचन-बहुवचन रूप कहे जा सकते हैं; किन्तु भाषा (उच्चारण) में स्थिति निम्न प्रकार है :—

अन्य पुरुष	एकवचन :—	वह,	वो	(जायगा)
,,	बहुवचन :—	वह,	वो, वे	(जायँगे)
		आप		(,,)

एकवचन का प्रयोग यहाँ भी असम्मान में होता है। बहुवचन के रूपों की स्थिति उत्तम और मध्यम पुरुषों के बहुवचन-जैसी ही है और यहाँ भी भ्रान्ति मिटाने के लिए वही साधन अपनाये जाते हैं।

'आप' का प्रयोग सम्मान या शिष्टाचार में उस व्यक्ति के लिए होता है जिससे बात की जा रही हो (भाषा के बजाय वस्तु-जगत् का मध्यम पुरुष); किन्तु यह व्याकरणिक दृष्टि से मध्यमपुरुष नहीं§ है, अन्य पुरुष है क्योंकि इसके साथ अन्य पुरुष क्रिया रूपों† का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थः—

आप जब भी आएँ, मेरे यहाँ अवश्य पधारें।

अन्यपुरुष में 'आप' का प्रयोग वस्तु-जगत् के अन्यपुरुष के लिए भी मिलता है। उदाहरणार्थ, आज की सभा के मुख्य वक्ता श्री प्रकाशदेव मीमांसक हैं। आपकी विद्वत्ता के सम्बन्ध में कौन नहीं जानता ! सौभाग्यवश हमारी इस विशाल शिक्षा-संस्था के जन्मदाता भी आप ही हैं।

कुछ भाषाओं में उत्तम पुरुष बहुवचन के दो रूप मिलते हैं :—समावेशी और व्यावर्त्तक। समावेशी में वक्ता के साथ श्रोता समाविष्ट रहता है, व्यावर्त्तक में श्रोता सम्मिलित नहीं रहता। कोर्कू में इसका उदाहरण है :—

के स्वाभाविक परिणामों के रूप में ये उदाहरण बड़े रोचक हैं।

इसका एक सरलतर समाधान यह हो सकता है कि इन्हें तिर्यक् कारक मान लिया जाय; किन्तु तब सर्वनाम (इन)-संज्ञा (लड़के) की व्याख्या अगल-अलग देनी होगी।

§कुछ लोग इसे व्याकरणिक बनाने के लिए मध्यम पुरुष रूपों के साथ बोलते हैं। मैंने कम-से-कम एक सुशिक्षित व्यक्ति को 'आप करो'-जैसे रूपों का प्रयोग करते सुना है। किन्तु स्पष्ट ही यह दो-एक व्यक्तियों की रचना है, भाषा की प्रकृति नहीं।

†आज्ञा-रूपों में अवश्य ही एक रूप प्राप्त होता है जो अन्य पुरुष से भिन्न है। वह है /-इए/ से संयुक्त रूप। उदा० कीजिए, हटिए आदि। किन्तु यह रूप मध्यम पुरुष में भी नहीं प्राप्त होता ; दूसरे, 'आप' के साथ आने वाले शेष सभी रूप (यहाँ तक कि आज्ञा के ही अन्य रूप—आप आएँ ! वे आएँ !) अन्य पुरुष के ही होते हैं, इसलिए इसे अन्य पुरुष में रखना ही समीचीन है।

क्रिया-रूप उत्तम पुरुष बहुवचन का भी यही होता है लेकिन निम्नलिखित वाक्यों का व्यतिरेक सुरक्षित रखने के लिये यह सुविधानजक है कि हम इस 'आप' को उत्तम पुरुष न मानें।

१. हम आप (=स्वयं) चले जायँगे।

२. हम-आप (=और आप) चले जायँगे।

ईञ्	'मैं'		
आलिञ्	'हम दोनों'	(व्यावर्त्तक)	=मैं+वह
आलाञ्	'हम दोनों	(समावेशी)	=मैं+तू
आले	'हम'	(व्यावर्त्तक)	=मैं+वे
आबुञ्	हम'	(समावेशी)	=मैं+तुम

३७·४ **कारक** की कोटि में भी पर्याप्त वैविध्य मिलता है। संस्कृत में आठ कारक थे जिनके लिए आठ विभक्तियों में रूपायन होता था। ये कारक थे—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण, सम्बोधन। हिन्दी में वाक्य-स्तर पर कुछ वाक्यांशों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार से क्रिया से जोड़ा जा सकता है और इस प्रकार कारकों की कल्पना की जा सकती है; किन्तु मर्षवैज्ञानिक स्तर पर गठन की दृष्टि से हिन्दी में तीन ही कारक हैं। उदाहरणार्थ:—

√लड़क्

	ए० व०	ब० व०
सरल कारक	१. लड़का	४. लड़के
तिर्यक् कारक	२. लड़के	५. लड़कों
सम्बोधन	३. लड़के	६. लड़को

इनके उदाहरण:—

१. लडका गया। मैंने वहाँ एक लड़का देखा।

२. लड़के ने कहा। लड़के पर बात न टालो।

३. ए लड़के ! यहाँ आ !

४. लड़के चले गये। मैंने सैकड़ों लड़के देख लिये।

५. लड़कों ने कहा। लड़कों से क्या होगा !

६. ए लड़को ! चुप रहो !

जिन लोगों की भाषा में 'लड़को', 'वीरो', 'भाइयो'-जैसे रूपों के स्थान पर 'लड़कों', 'वीरों', 'भाइयों'-जैसे रूपों का प्रयोग सम्बोधन में भी होता है, उनकी भाषा में दो ही कारक हैं—सरल और तिर्यक्।

३७·५ **काल** क्रियाओं में मिलने वाली कोटि है। काल सामान्यत: तीन होते हैं—भूत, वर्तमान और भविष्य।

हिन्दी में काल की अभिव्यक्ति के लिए क्रियारूपों का रूपायन कम ही होता है, प्राय: वाक्यांशों का प्रयोग किया जाता है। भविष्य में अवश्य ही रूपायन का उदाहरण मिलता है, जिसके लिए {-ग्} मर्षिम प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ:—जायगा, जायँगे।

३७·६ **पक्ष** भी क्रियाओं में मिलने वाली व्याकरणिक कोटि है। इसमें समय पर बल नहीं होता, बल्कि कार्य की पूर्णता-अपूर्णता और उसकी वारंवारता पर बल होता है। रूसी भाषा में दो पक्ष होते हैं—पूर्ण और अपूर्ण, जिनमें सारी क्रियाएँ विभक्त हैं। उदाहरणार्थ:—

	पूर्णपक्ष	अपूर्ण पक्ष
अध्ययन करना	इज़ुचीत्य	इज़ुचात्य
पूर्ण करना	विपल्न्यीत्य	विपल्न्यात्य
दबाना, धकेलना	तल्क्नूत्य	तल्कात्य
बताना	रस्कज़ात्य	रस्काज़िवत्य
व्यवस्थित करना	उस्त्रोइत्य	उस्त्राइवत्य
देना	दात्य	दवात्य

३७·७ **वाच्य** क्रियाओं में प्राप्त होने वाली वह व्याकरणिक कोटि है जिससे यह पता चलता है कि वाक्य में कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त हुए शब्द से द्योतित जीव या वस्तु ने वस्तुतः कोई प्रक्रिया सम्पादित की है अथवा उससे प्रभावित हुआ है। वाच्य अधिकतर दो होते हैं—कर्त्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य। उदाहरणार्थ,

कर्त्तृवाच्य	कर्मवाच्य
काटना	कटना
तारना	तरना
गिराना	गिरना

३७·८ **वृत्ति** भी क्रियाओं में मिलने वाली व्याकरणिक कोटि है। वृत्तियाँ कई होती हैं। इनमें आज्ञा तथा संकेतार्थक विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वाक्यविज्ञान

३८. हम यह कह चुके हैं कि शब्दों के संयोजन का विचार **वाक्यविज्ञान** है। जब हम 'संयोजन' शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारा तात्पर्य शब्दों की सार्थक योजना से होता है। हँसना, कमल, उठाया, ने, मारो-सरीखे पाँच-सात या इससे कम-ज्यादा शब्दों को एक साथ एकत्र कर देना और उनमें किसी प्रकार की व्यवस्था की चिन्ता न करना वाक्यविज्ञान के विषय-क्षेत्र से बाहर की बात है। वाक्यविज्ञान किसी सार्थक और सोद्देश्य व्यवस्था वाले शब्दों का अनुक्रम लेता है, ऐसा अनुक्रम जो वाक्य या वाक्यांश के रूप में व्यवहार करता है। वह ऐसे उच्चार के विविध खंडों का पारस्परिक संबंध खोजता है। मर्षिमों, मर्षिमानुक्रमों, शब्दों अथवा शब्दानुक्रमों के सार्थक संयोजनों की व्यवस्था का नाम **रचना** है। संयोजनों की व्यवस्था की सामान्यता की बात छोड़ दें तो इस प्रकार का प्रत्येक संयोजन एक **संघटन** है। 'राम कानपुर गया' और 'श्याम सागर आया' ये एक ही रचना वाले दो संघटन हैं। किसी संघटन की रचना करने वाले तत्वों को **संघटक** कहा जाता है। किसी संघटन के सारे लघुतम तत्त्वों का पारस्परिक संबंध एक-सरीखा नहीं होता; कुछ तत्त्व परस्पर अधिक निकटतापूर्वक संबद्ध होते हैं और ये तत्त्व आपस में मिलकर संयुक्त रूप से किसी अन्य तत्त्व या तत्त्वों से अधिक निकटता का संबंध रखते हैं। संघटनों में इस प्रकार गठन

की अनेक स्तहे मिलती है। अनुतान तो किसी संघटन के समग्र खंडीय स्वनिमानुक्रम का समकालिक संघटक होती है। उसे छोड़ दे तो शेष संघटन मे इस प्रकार की सतहो की खोज यान्त्रिक नही होती, उससे भाषा की प्रकृति पर प्रकाश पडता है। संघटको के पारस्परिक सबंध का विश्लेषण मर्षविज्ञान के अन्तर्गत भी होता है; किन्तु वाक्यविज्ञान में उसकी विशेष महत्ता है। ऐसे सघटक जो किसी समग्र संघटन अथवा उसके अन्तर्भूत लघु सघटनों की रचना के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होते है; **समीपी संघटक** कहलाते है। समीपी सघटको मे परस्पर अधिक निकट का सम्बन्ध होता है जो अर्थ की स्वाभाविकता सुरक्षित रखता है।

३९. नीचे एक वाक्य के समीपी संघटको का विश्लेषण किया जा रहा है:—

वे	कल	इन्दौर	गये

१. वे कल इन्दौर गये।

यह सम्पूर्ण वाक्य एक संघटन है जिसके दो समीपी संघटक है—'वे' तथा 'कल इन्दौर गये'। इस वाक्य में अन्तर्भूत एक संघटन 'कल इन्दौर गये' है जिसके दो समीपी सघटक है-—'कल' तथा 'इन्दौर गये'। 'इन्दौर गये' पुन: एक सघटन है जिसके समीपी संघटक है—'इन्दौर' तथा 'गये'। यदि किसी प्रबुद्ध हिन्दीभाषी से पूछा जाय तो वह इसी प्रकार का विश्लेषण करेगा क्योकि इसमे उसे अपने अर्थ की अनुभूति अधिक स्वाभाविक रूप से होती है। अनुतान इस विश्लेषण की पुष्टि करती है। 'कल' कालवाचक क्रियाविशेषण है और 'इन्दौर' स्थानवाचक क्रियाविशेषण, फिर भी इन दोनो को सयुक्त करके एक संघटन का रूप देना और तब उसे क्रिया से सम्बद्ध करना उचित नही प्रतीत होता; कुछ अस्वाभाविकता-सी आती लगती है। किन्तु इसका कारण यह नही है कि स्थानवाचक क्रियाविशेषण को कालवाचक क्रियाविशेषण की तुलना में प्राथमिकता दी जाती है। यदि ऐसा नही है तो क्या निम्नलिखित विश्लेषण उचित है ?

कल	इन्दौर	गये

नही। इसका वास्तविक कारण यह है कि दो विश्लेषणों मे वही विश्लेषण उपयुक्त होता है (यदि अन्य बाते समान हो), जिससे संघटकों की संसक्तता अर्थात्

आसन्नता सुरक्षित रहती है। इसलिए हमारा पहला विश्लेषण ही ग्राह्य है। निम्न-लिखित उदाहरण से इसकी पुष्टि होती है :—

वे | इन्दौर | कल | गये

२. वे इन्दौर कल गये।

और

कल | वे | इन्दौर | गये

३. कल वे इन्दौर गये।

पहिले और दूसरे वाक्यों में 'कल' तथा 'इन्दौर' को पहिले संबद्ध न करने का कारण है :—हिन्दीभाषी व्यक्ति की भावानुभूति तथा अनुतान का इंगित।

३९·१ किन्तु ऐसा नहीं है कि क्रिया-विशेषण संबद्ध किये ही न जा सकते हों। निम्नलिखित वाक्य में काल-द्योतक दो संघटक हैं ('कल' और 'तीन बजे') जो एक दूसरे के पूरक पहले हैं, क्रिया के सहायक बाद में। जब वे परस्पर संबद्ध हो जाते हैं, तब एक इकाई के रूप में क्रिया की विशेषता बताते हैं।

वे | कल | तीन | बजे | गये

४. वे कल तीन बजे गये।

३९·२ उपर्युक्त उदाहरणों में प्रत्येक संघटन के दो संघटक हैं, किन्तु ऐसा सदा नहीं होता। किसी-किसी संघटन में कई संघटक होते हैं। उदाहरणार्थः—

सुरेश | पुष्पा | प्रमोद | और | वेदप्रकाश | पास | हो | गये

५. सुरेश, पुष्पा, प्रमोद और वेदप्रकाश पास हो गये।

इसमें 'और' के लिए भिन्न प्रकार का रेखांकन अपनाया गया है; क्योंकि वह

सघटन मे सक्रिय भाग नही लेता ; वह केवल इस बात का **चिह्नक** है कि उसके पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती संघटक एक विशेष संघटन मे प्रविष्ट हो रहे है। चारों संज्ञाओं को एक ही संघटन के समस्तरीय संघटकों के रूप मे देखना त्रुटिपूर्ण होगा क्योंकि जैसा कि कोई भी हिन्दीभाषी अनुभव करेगा, 'और' अपने पूर्ववर्त्ती संघटकों को एक इकाई के रूप मे ग्रहण करके उसे परवर्त्ती सघटक से जोडता है। अन्तिम संज्ञा के पूर्व 'और' का प्रयोग करने की हिन्दी-परम्परा की यह सुविधाजनक व्याख्या है। यदि सारी सज्ञाएँ एकबारगी एक स्तर पर रख दी जायँ तो 'और' के 'स्थान' का आकृतिमूलक विश्लेषण नही दिया जा सकेगा अर्थात् सैद्धान्तिक रूप से 'और' का अन्यत्र कही भी प्रयोग वैध हो जाएगा। इस मिथ्या संभावना को दूर करने के लिए 'और' के 'स्थान' के सम्बन्ध मे एक टिप्पणी पृथक् से दी जा सकती है ; किन्तु यह आकृतिमूलक भाषिकी की दृष्टि से विश्लेषण की असफलता है।

निम्नलिखित उदाहरणों से इस प्रकार की प्रवृत्ति पर और प्रकाश पड़ेगा।

राम	सुरेश	और	दिनेश	के	भाई

राम	और	सुरेश	तथा	दिनेश	के	भाई

'के' को मैंने चिह्नक नहीं माना है क्योंकि पूर्ववर्त्ती शब्द के साथ संयुक्त होकर यह परवर्त्ती संज्ञा के लिए एक इकाई के रूप में विशेषण की रचना करता है। 'दिनेश के' का कार्य वैसा ही है जैसा इसके स्थान पर 'अच्छे' का होता।

३९·३ निम्नलिखित वाक्यों के समीपी संघटकों का विश्लेषण वाक्यों के साम्य के बावजूद असंदिग्ध है और इसके लिए रूपायन उत्तरदायी है।

लम्बे	चिकने	मोटे	पत्तियो	वाले	पेड़

लम्बे	चिकने	मोटी	पत्तियो	वाले	पेड़

लम्बे | चिकनी | मोटी | पत्तियो | वाले | पेड

लम्बी | चिकनी | मोटी | पत्तियों | वाले | पेड़

३६·४ कभी-कभी किसी उच्चार के अर्थ के सम्बन्ध में संशय होने लगता है। समीपी संघटकों के विश्लेषण से इस संशय के कारण पर प्रकाश पड़ता है और यह पता चलता है कि क्या भाषा स्वयं ही इस प्रकार के संशय के लिए उत्तरदायी है। उदाहरणार्थ:—

कच्चे आम और अमरूद।

इस उच्चार के दो अर्थ हो सकते हैं और यह द्विविधा भाषा में सन्निहित है। इस द्विविधा का निवारण प्रसंग से हो सकता है। उक्त उच्चार के दोनों अर्थ और उन अर्थों के अनुसार उच्चार के समीपी सघटक निम्न प्रकार होंगे:—

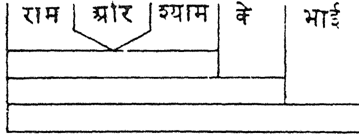
कच्चे | आम | और | अमरूद

१, अर्थ—कच्चे आम और कच्चे अमरूद।

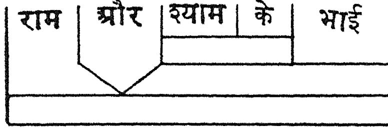
कच्चे | आम | और | अमरूद

२. अर्थ—अमरूद और कच्चे आम

यही स्थिति 'राम और श्याम के भाई' उच्चार की है। इसकी द्विविधा निम्नलिखित प्रकार की है :—



१. अर्थ—राम के भाई और श्याम के भाई।



२. अर्थ—श्याम के भाई और राम।

४०. 'कच्चे आम' और 'धीरे चलना' उच्चार भिन्न-भिन्न रचनाओं से बने हुए संघटन है। किन्तु इन दोनों में एक साम्य है। पहले संघटन का दूसरा संघटक मुख्य है, पहला संघटक उसकी विशेषता-मात्र बतलाता है। इसी प्रकार दूसरे संघटन में भी दूसरा संघटक मुख्य है और पहला संघटक उसकी विशेषता-मात्र बतलाता है। इस दृष्टि से भिन्न-भिन्न रचनाओं में साम्य खोजना और उन्हें **वर्गबद्ध करना रचना-प्रकार** का निर्धारण करना है।

४०·१ मुख्य रचना-प्रकार दो होते है :—अन्तर्केन्द्रिक और बहिर्केन्द्रिक। किसी संघटन के समीपी संघटकों के वाग्भाग का निश्चय करने के बाद सम्पूर्ण संघटन के वाग्भाग का निश्चय करना चाहिए। यह उनके वाक्य-व्यवहार के साम्य अथवा वैषम्य से निश्चित होता है। उदाहरणार्थ, 'कच्चे आम' संघटन के समीपी संघटक है—'कच्चे' और 'आम'। इनमें पहला संघटक विशेषण है और दूसरा संज्ञा। सम्पूर्ण संघटन 'कच्चे आम' भी वाग्भाग की दृष्टि से सज्ञा की भाँति कार्य करता है। निम्नलिखित उदाहरणों में 'आम' या 'कच्चे आम' का इच्छानुसार प्रयोग सभव है, इससे उच्चार में व्याकरणिक अशुद्धता नहीं आती।

मुझे (± कच्चे) आम अच्छे लगते है।
(± कच्चे) आमों का क्या होगा ?
मेरे लिए (± कच्चे) आम ले आओ !

'धीरे चलना' में दूसरा संघटक क्रियार्थक सज्ञा है और पहला क्रियाविशेषण। सम्पूर्ण संघटन भी क्रियार्थक संज्ञा है, इसीलिए वह निम्नलिखित वाक्यों मे 'चलना' का स्थानापन्न हो सकता है।

बच्चो को (± धीरे) चलना चाहिए।
(± धीरे) चलने से क्या होता है ?
उसे (± धीरे) चलना नहीं आता।

'घोड़े और गधे' उच्चार मे दोनो समीपी सघटक सज्ञा है और समग्र संघटन भी संज्ञा है। इसीलिए निम्नलिखित वाक्यों में 'घोडे' ('गधे' भी रक्खा जा सकता है) के स्थान पर पूरा संघटन प्रयुक्त हो सकता है। उदाहरणार्थ:—

घोड़े (± और गधे) चर रहे थे।
घोड़ो (± और गधों) पर सवारी की जाती है।
घोड़े (± और गधे) को चराने कौन गया है।

ये सारे उदाहरण अन्तर्केन्द्रिक है। यदि कोई संघटन उसी वाग्भाग के अन्तर्गत आता हो जिसके अन्तर्गत उसका कम-से-कम एक समीपी संघटक आता है, तो उस संघटन का रचना-प्रकार **अन्तर्केन्द्रिक** होगा।

४०·२　कोई संघटन जिस वाग्भाग के अन्तर्गत आता है, यदि उस वाग्भाग के अन्तर्गत उस संघटन का कोई भी समीपी संघटक न आता हो, तो उस सघटन का रचना-प्रकार **बहिर्केन्द्रिक** होगा। यदि उस संघटन का वाग्भाग निश्चित करना संभव न हो तो उसका वाक्य-व्यवहार अपने सघटको से भिन्न होना चाहिए। उदाहरणार्थ,

घोड़े पर :—इसमें पहला सघटक सज्ञा और दूसरा सघटक परसर्ग है। सम्पूर्ण सघटन क्रियाविशेषण है। इसीलिए वाक्य-व्यवहार में यह संघटन अपने किसी भी समीपी सघटक का स्थानापन्न नही बन सकता।

राम गया :—इसका पहला संघटक सज्ञा और दूसरा क्रिया है। यह संघटन वाक्य-व्यवहार मे अपने किसी सघटक का स्थानापन्न नही हो सकता।

रमेश बड़ा है :—इसके दो समीपी संघटक हैं—'रमेश' और 'बड़ा है'। पूरा संघटन वाक्य-व्यवहार मे इनमें से किसी का भी स्थानापन्न बनने में समर्थ नहीं है।

४१.　ऊपर यह कहा गया है कि कुछ मिलते-जुलते वाक्यों के समीपी संघटको का विश्लेषण रूपायन के कारण असंदिग्ध रहता है। वास्तव में इस प्रकार के रूपायन का वाक्य में अपना विशेष कार्य होता है। वाक्य या वाक्यांश के विभिन्न शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाने की भाषायी पद्धति को **वाक्य-शृंखलता** कहा जाता है। वाक्य-शृखलता कई प्रकार की होती है। इसमें से रूपायन द्वारा व्यक्त होने वाली वाक्य-शृखलता के प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित है :—

४१ १ यदि एक शब्द बिना किसी बाह्य कारण के अपने साथ के दूसरे शब्द को कोई विशेष रूप ग्रहण करने के लिए विवश कर दे, तो इस प्रकार की वाक्य-शृखलता **शासन** कहलाती है। उदाहरणार्थ, हिन्दी में ने, को, से, का, में आदि परसर्ग अपनी पूर्ववर्त्ती सज्ञा को तिर्यक् कारक में आने के लिए विवश कर देते है। इनके पूर्व एकवचन में 'घोड़ा', 'लड़का' के बजाय 'घोड़े', 'लड़के' तथा बहुवचन में 'घोड़े', 'लड़के' के बजाय 'घोड़ों', 'लड़कों' का प्रयोग होता है।

संस्कृत मे 'रामं प्रति' में 'प्रति' के कारण 'राम' द्वितीया रूप में आया है। इसी प्रकार 'रामेण सह' में तृतीया 'रामेण' के लिए 'सह' उत्तरदायी है।

४१·२ यदि दो या अधिक शब्दो मे कोई तत्त्व दुहराया जाता है, तो यह **अन्विति** का उदाहरण है। हिन्दी के निम्नलिखित उदाहरणो मे से प्रथम स्तम्भ के प्रथम शब्दों में वचन के लिए रूपायन की दृष्टि से कोई योग नही हुआ है, उनमे सीमान्तिक दृष्टि से वचन विद्यमान है और उसके कारण द्वितीय शब्दों मे वचन के लिए रूपायन हुआ है। दूसरे स्तम्भ के द्वितीय शब्द किन्ही लिगो के अन्तर्गत आते है (लिग के लिए रूपायन नही हुआ है); और इसी आधार पर प्रथम शब्दो का लिग के लिए रूपायन हुआ है।

(१)	(२)
एक घोड़ा	अच्छा घर
दो घोड़े	अच्छा ग्रंथ
तीन घोड़े	अच्छी किताब
सौ घोड़े	अच्छी देह
बहुत घोड़े	अच्छा शरीर

दूसरे प्रकार की अन्विति मे दोनो (या सभी) शब्दो मे रूपायन होता है। उदाहरणार्थ :—

हिन्दी

अच्छा लड़का	अच्छी लड़की
अच्छे लड़के	अच्छी लड़कियाँ

गुजराती

सारो छोकरो	सारी छोकरी
सारूं छोकरूं	सारा छोकराओ
सारां छोकरां	सारी छोकरीओ

संस्कृत

सुन्दरः बालकः	सुन्दरौ बालकौ
सुन्दराः बालकाः	सुन्दरं फलम्
सुन्दरे फले	सुन्दराणि फलानि
सुन्दरी बालिका	सुन्दर्यौ बालिके
सुन्दर्यः बालिकाः	

कोर्कू

डीजा आबाटे	'उसका पिता'	(डीजा = उसका; —टे = अन्य पुरुष)
डीजा आईटे	'उसकी मौसी'	

यह अन्विति उद्देश्य-विधेय में बँटी हुई भी मिलती है। उदाहरणार्थ, नीचे के वाक्यों में कर्त्ता-क्रिया दोनों में ही पुरुष तथा वचन का इङ्गित है।§

सः (सा) पठति ।	(अ० पु०, ए० व०)
तौ (ते) पठतः ।	(,, , द्वि व०)
ते (ताः) पठन्ति ।	(,, , ब० व०)
त्वं पठसि ।	(म० पु०, ए० व०)
युवां पठथः ।	(,, , द्वि व०)
यूयं पठथ ।	(,, , ब० व०)
अहं पठामि ।	(उ० पु०, ए० व०)
आवां पठावः ।	(,, , द्वि व०)
वयं पठामः ।	(,, , ब० व०)

उद्देश्य-विधेय में फैली हुई अन्विति का एक स्वरूप ऐसा भी मिलता है, जिसमें उद्देश्य का रूपायन नहीं होता, वह यों ही किसी व्याकरणिक कोटि के अन्तर्गत होता है और विधेय का रूपायन उसी के अनुरूप होता है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित हिन्दी वाक्यों में लिंग की व्यवस्था देखिए—

पुस्तक	रक्खी है।
घर	गिर गया।
मन	टूट गया।
आत्मा	बिखर गई।
शरीर	जर्जर हो गया।
देह	जर्जर हो गई।

§इन विविध प्रकार की अन्वितियों को कुछ विद्वान् विविध प्रकार की वाक्य-शृंखलताएँ मानते हैं तथा इन्हें भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित करते हैं।

चौथा अध्याय

भाषा की उत्पत्ति

१. हमारे समाज में शिशु को भाषा-ज्ञान इतना शीघ्र हो जाता है कि होश सँभालते-सँभालते भाषा पर उसका पूर्ण और सहज अधिकार हो जाता है। भाषा का प्रयोग करना उसके लिए इतना स्वाभाविक हो जाता है जितना साँस लेना या चलना-फिरना। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति साँस लेता रहता है लेकिन यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझता कि साँस क्या है और उसके आवागमन का वास्तविक स्वरूप क्या है ; जिस प्रकार वह चलता-फिरता अवश्य है और इसमें पैरों की आवश्यकता भी समझता है; किन्तु पग-संचालन में मांसपेशियों और गति-प्रेरक स्नायुओं के वास्तविक कार्य-कलाप के महत्त्व की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझता; उसी प्रकार वह भाषा का प्रयोग निरन्तर करता रहता है किन्तु उसके बारे में किसी प्रकार का चिन्तन करने की आवश्यकता नही समझाता। जब भाषा के बारे मे मनुष्य ने पहले-पहल कुछ सोचा होगा, उस समय की यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात मानी जानी चाहिए।

२. प्रारम्भ में मनुष्य की जिज्ञासा का समाधान किसी वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ विश्लेषण से नहीं होता था; बल्कि प्रत्येक अज्ञात के पीछे किसी अलौकिक सत्ता का हाथ मानकर सन्तोष किया जाता था। इस अलौकिक सत्ता को अनादि-अनन्त माना जाता था और उसके मूल की खोज का प्रश्न ही नहीं उठता था। यह सत्ता ईश्वर आदि नामों से अभिहित की जाती थी। भाषा के सम्बन्ध मे चिन्तन करने पर अन्य तत्त्वों की भाँति यहाँ भी पहला प्रश्न यही हुआ कि भाषा आई कहाँ से। इस प्रश्न का उत्तर वही मिला जो इस प्रकार के सभी प्रश्नों के लिए दिया जाता रहा है—ईश्वर की देन ! पतजलि के शब्दो में ईश्वर ही आदि गुरु है, उसके पहले कोई गुरु नहीं था।

दैवी उत्पत्ति के अनुमान के पीछे जो भाव-धारा काम कर रही थी, उसका आभास सामान्य जनता की उस प्रवृत्ति में देखा जा सकता है, जिसके आधार पर उसे प्रत्येक उपयोगी-अनुपयोगी वस्तु ईश्वर की कृपा से मिली प्रतीत होती है। कोई धनवान है तो ईश्वर ने उसे पैसा दिया है; कोई पुत्रहीन है तो ईश्वर उसे सन्तति नही दे रहा है और किसी की माँ मर गई है तो ईश्वर ने उसे उठा लिया है। आग और पानी-जैसे तत्त्वों के उपयोग की महत्ता का अनुभव जिस तीव्रता से किया जाता

था, उनकी शक्ति के आश्चर्यजनक प्रदर्शनों से जिस भयमिश्रित दैन्य और अन्ध-विश्वास को जन्म मिलता था, उसके फलस्वरूप इन्हें देवता माना गया। अग्नि और वरुण की महत्ता मनुष्य के प्रारम्भिक साहित्य में व्यापक रूप से प्राप्त होती है।

३. धर्मप्राण जनता ईश्वर को इस प्रकार की बातों में निमित्त मानकर धार्मिक सन्तोष का अनुभव करती है। सभी धर्मावलम्बी अपनी-अपनी भाषा की उत्पत्ति ईश्वर से मानते है, उसकी भूतकालीन विस्तृत व्यापकता के बारे में अविश्व-सनीय रूप से आश्वस्त रहते हैं। बाइबिल में उल्लेख है कि बेबल का आकाशचुम्बी मीनार बना रही मनुष्य-जाति की संभावित शक्ति की असीमता से ईश्वर भयभीत हो गया और विघ्नस्वरूप उसने कारीगरों की भाषा गड़बड़ा दी। भाषा बदल जाने पर मीनार नहीं बन पाया क्योंकि उसके कारीगरों में से कोई भी व्यक्ति किसी भी दूसरे व्यक्ति की बात नहीं समझ पाता था; इसलिए उनका पारस्परिक सहयोग समाप्त हो गया। 'बेबल' ('बेबीलोन' भी) शब्द स्वतः इस घटना का प्रमाण है क्योंकि यह शब्द हिब्रू 'बालल' से बना है जिसका अर्थ होता है—गड़बड़ा देना, मिश्रित कर देना या भ्रान्त कर देना। इस प्रकार 'बेबल' शब्द का अर्थ है§—वह स्थान जहाँ ईश्वर ने मनुष्य की भाषा गड़बड़ा दी थी।

भाषा की दैवी उत्पत्ति में विश्वास करने वाले लोगों के इस प्रकार के मत को हम **दैवीवाद** कह सकते हैं। भारतीय आर्य अपनी प्राचीन भाषा संस्कृत को 'देवभाषा' कहते रहे हैं। जर्मन लोगों ने अपनी भाषा जर्मन को 'देवभाषा' कहा है। ग्रीस के विद्वानों में 'फूसेइ-थेसेइ' का झगड़ा शताब्दियों तक इसी बात को लेकर चलता रहा कि भाषा ईश्वर की प्रत्यक्ष देन है अथवा मनुष्य का कृतित्व है।

४. रूसो का **निर्णयवाद** दैवी उत्पत्ति की अवैज्ञानिक कल्पना नहीं स्वीकार करता। इसके अनुसार आदि काल में मनुष्य-समाज ने परस्पर बैठकर भाषा का निर्माण किया; शब्दों की रचना की और उनका अर्थ निर्धारित किया। यह मत भी गम्भीरतापूर्वक विचार करने के योग्य नहीं समझा जाता। जब भाषा थी ही नहीं तब मनुष्य-समाज को एकत्र कर लेना, शब्दों की रचना करके लोगों को उनका ज्ञान करा देना और अर्थ के सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर लेना किस प्रकार सम्भव हुआ? एकत्र मनुष्य-समाज, जो भाषा-जैसी किसी वस्तु से परिचित नहीं था और जिसे यह कल्पना भी न थी कि इस प्रकार की किसी वस्तु की रचना की जा सकती

---

§वास्तव में इस शब्द की व्युत्पत्ति अक्कदी भाषा के 'बाबेल' शब्द से है जो 'बाब-ईलु' का संक्षिप्त रूप है। 'बाब-ईलु' का अर्थ है—ईश्वर का द्वार।

अज्ञानवश ध्वनिसाम्य के आधार पर इसे यहूदी भाषा हिब्रू के 'बालल' शब्द से संबद्ध मान लिया गया है। बाइबिल की मूलभाषा हिब्रू है। यह लोक-व्युत्पत्ति का मनोरंजक उदाहरण है।

है, सहसा यह कैसे अनुभव करने लगा कि इस प्रकार की किसी वस्तु की रचना की जा सकती है और इस प्रकार की जा सकती है ? यदि यह कल्पना किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क में आई तो उसने दूसरे व्यक्तियों पर उसे व्यक्त कैसे किया ?

५. डार्विन के अनुसार प्रारम्भ में मनुष्य हाथ के संकेत से काम चलाता था। उसके वागंगों ने अचेतन रूप से उन संकेतों का अनुकरण प्रारम्भ कर दिया होगा। फलस्वरूप मनुष्य का मुख भाँति-भाँति की आकृतियाँ बनाने लगा होगा, जिनके साथ कुछ ध्वनियाँ भी सम्बद्ध रहती रही होंगी। क्रमशः किसी प्रसग में यही ध्वनियाँ अवशिष्ट रह गई होंगी और (अर्थ की दृष्टि से) लुप्त सम्बद्ध हस्त-सकेतों का कार्य करने लगी होंगी। हस्त-संकेतों से भाषा की उत्पत्ति का समर्थन करने के कारण इस विचारधारा को हम **संकेतवाद** कह सकते हैं। पूरी-पूरी भाषाओं का निर्माण इस वाद के संदर्भ में भी स्पष्टतापूर्वक नहीं समझा जा सकता।

६. हर्डर ने अपने एक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि मनुष्य ने भाषा की रचना नहीं की; बल्कि उसे जन्मा है। जिस प्रकार गर्भ के शिशु को जन्म देने के लिए माँ को प्रत्यक्ष रूप से कुछ करना नहीं पड़ता, उसी प्रकार भाषा की रचना के लिए मनुष्य को कुछ करना नहीं पड़ा। समय पर भाषा ने स्वयं ही प्राकृतिक रूप से जन्म ले लिया। इस मान्यता को इसी आधार पर **प्रकृतिवाद** की संज्ञा दी जा सकती है।

पैगेट का कथन भी इसी प्रकार का है। उनके अनुसार मनुष्य ने दो पैरों पर चलना सीखा और दो हाथों को अन्य कार्यों के लिए मुक्त कर लिया। हाथों की अतिव्यस्तता के कारण भावाभिव्यक्ति के लिए संकेत करने में असुविधा होने लगी। वागंग अपेक्षाकृत आराम में थे क्योंकि उनका प्रधान कार्य भोजन करना है और भोजन करने में मनुष्य को थोड़ा ही समय लगता था। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक क्रम से भावाभिव्यक्ति का कार्य वागंगों के जिम्मे चला गया। इस मत से केवल इतना पता चलता है कि भाषा की रचना मनुष्य ने सचेतन रूप में नहीं की। इससे यह नहीं पता चलता कि आद्य शब्द बने किस प्रकार के ; अन्य सारे वादों पर विचार करें तो हम देखेंगे कि प्राकृतिक ढंग से उत्पन्न होने वाले शब्द संकेतमूलक, अनुकरणमूलक, आवेगी तथा श्रमपरिहरणमूलक हो सकते हैं। इस प्रकार इन वादों को प्रकृतिवाद में समन्वित रूप से अन्तर्हित मानना चाहिए। इस दृष्टि से प्रकृतिवाद ठोस विचारधारा का प्रतिनिधि है।

७. **अनुकरणमूलकतावाद** के अनुसार मनुष्य की भाषा का आरंभ अनुकरण से हुआ। पशु-पक्षियों तथा प्राकृतिक पदार्थों की ध्वनि का मनुष्य ने अनुकरण किया और अनुकरणमूलक शब्दों का प्रयोग उन-उन पशु-पक्षियों तथा पदार्थों के लिए करने लगा। इस प्रवृत्ति के दर्शन हमें आज भी होते हैं। मोटर साइकिल के लिए प्रयुक्त

होने वाला एक शब्द 'फटफट' या 'फटफटिया' है जो चलती हुई मोटर साइकिल की फट-फट ध्वनि के अनुकरण पर बना है। 'पिपिहरी' एक बाजा है जिससे 'पी-पी' ध्वनि निकलती है। 'भोंपू' नाम भोंपू को इसीलिए मिला है कि उससे 'भों' ध्वनि उत्पन्न होती है। कौवे के लिए संस्कृत में 'काक', कोयल के लिए अँगरेजी में 'कुक्कू' शब्द इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं। किन्तु किसी भी भाषा को लें, अनुकरणमूलक शब्दों की संख्या इतनी कम मिलती है कि इस वाद के आधार पर भाषा के उद्गम की समस्या का समाधान संभव नहीं लगता। यदि किसी भाषा में ऐसे शब्दों की संख्या पर्याप्त अधिक मिलती है तो किसी में उनका नितान्त अभाव भी मिलता है।

दूसरे, जैसा कि रेनन का कहना है, यह सोचना युक्तिसंगत नहीं है कि जब मनुष्य ने पशु-पक्षियों की ध्वनि का अनुकरण करना आरंभ किया, उस समय तक वह स्वयं कुछ बोलता ही नहीं था। यदि निम्न योनि वाले जीव-जन्तु बोलते थे तो उच्च योनिवाली मनुष्य-जाति क्यों नहीं बोलती रही होगी? और यदि एक मनुष्य पशु-पक्षियों की ध्वनि का अनुकरण कर सकता है तो अपने साथियों का अनुकरण उसने क्यों नहीं किया होगा?

८. **आवेगीवाद** के पक्षधरों का कहना है कि भाषा का आरंभ आवेगी शब्दों से हुआ। पीड़ा, आनन्दातिरेक तथा अन्य तीव्र मनोभावों की प्रतिक्रिया स्वतः कुछ आवेगी शब्दों की अभिव्यक्ति के रूप में हुई। आवेगों के प्रभाव से निम्न योनियों के जीव-जन्तुओं में आज भी विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करने के प्रमाण मिलते हैं। कुत्ता दुःख से कातर होकर अलग तरह से रोता है, अपने मालिक के साथ खेलते हुए अलग तरह की ध्वनि करता है और किसी की खुशामद करते समय अलग ही तरह से कुरकुराता है। आदिकाल में इसी प्रकार के विविध आवेगी शब्दों से ही भाषा का श्रीगणेश हुआ।

इस मत के समर्थक सामान्यतः यह मानकर चलते हैं कि आवेगों के परिणाम-स्वरूप विभिन्न आवेगी शब्दों का जन्म स्वभावतः हो जाता है। किन्तु इस प्रकार की ध्वनियों के 'स्वभावतः' उत्पादन का अर्थ यह हुआ कि इसका कोई शुद्ध शारीरिक कारण है। आवेगियों के उत्पादन की कारणभूत शारीरिक प्रक्रियाओं का उल्लेख ये लोग नहीं करते, किन्तु डार्विन ने कुछ आवेगियों के लिए शारीरिक कारण दिये हैं। उदाहरणार्थ, तिरस्कार, उकताहट और घृणा में नासारन्ध्रों तथा मुँह से फूँक निकालने की प्रवृत्ति होती है जिसके कारण 'पूह' या 'पिश' जैसी ध्वनियाँ बनती हैं। यदि कोई ऐसा कारण उपस्थित हो जाय जिससे मनुष्य सहसा आश्चर्य-चकित रह जाय तो मनुष्य का शरीर स्वतः दीर्घकाल तक श्रम के लिए तत्पर-सा हो उठता है और मुँह को फैलाकर शीघ्र ही गहरी साँस ले लेना चाहता है। जब वह भरपूर श्वास-निक्षेप करता है तो मुँह थोड़ा-सा बन्द हो जाता है और ओठ गोल होकर बाहर की ओर

निकल आते हैं । यदि घोष उत्पन्न किया जाय तो इससे 'ओ' स्वर उत्पन्न हो जाता है। आश्चर्य में लोगों के मुँह से 'ओह' सुना जाता है, उसकी यही व्याख्या है। आवेगियों से भाषा की उत्पत्ति नहीं हुई, ऐसा कहने वाले लोग जोश में आवेगियों का आवेगों से प्रत्यक्ष संबंध भी अस्वीकार करने लगते हैं और तर्क यह देते हैं कि ऐसा होता तो संसार की सारी भाषाओं के आवेगी समान होते, उनमें किसी प्रकार का भेद न मिलता । वास्तव में यह तर्क ठीक नहीं है । आवेगों की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न शब्दों की सामान्य प्रकृति ही आवेगों द्वारा नियंत्रित होती है; प्रत्येक प्रयोज्य ध्वनि या स्वनिम का निश्चय आवेग नहीं कर देते । इसके अतिरिक्त आवेगों की अभिव्यक्ति के स्वरूप में स्वतः कुछ विकल्प भी संभव है । इस बात को समझने के लिए संसार की भाषाओं के आवेगियों की तुलना करनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि उनमें अन्य सामान्य शब्दों की अपेक्षा अधिक एकरूपता है या नहीं ।

इस वाद के विरोध में कही जाने वाली प्रमुख बात यह है कि आवेगी भाषा के सक्रिय अंग नहीं हैं । ये या तो अकेले प्रयुक्त होते हैं या वाक्य में आते हैं तो उसके पहले ही प्रयुक्त हो जाते हैं और वाक्य के अन्य अंगों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं स्थापित करते । बेनफी के शब्दों में कहें तो आवेगी वास्तव में भाषा का विलोम है क्योंकि उसका प्रयोग तब होगा जब कोई बोल नहीं पाता या आगे उसे और कुछ बोलना नहीं होता । यह बात पूरी तरह सही है और आवेगियों से साधित 'वाहवाही', 'टिल्लवलि'-जैसे दो-चार शब्दों से इस बात का खंडन नहीं होता क्योंकि ये एक तो बहुत कम हैं; दूसरे प्रायः आवेगियों के टूटे-फूटे 'अनुकरण' पर आधारित हैं। भाषा और आवेगियों के बीच की दूरी का एक प्रमाण यह भी है कि अनेक आवेगियों में इस प्रकार की ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं जिनका प्रयोग भाषा में शब्द-रचना आदि के लिए नहीं होता । हिन्दीभाषी सहानुभूति प्रकट करने के लिए 'च्-च्-च्' का प्रयोग करते हैं जो भाषा में मिलने वाले /च्/ स्वनिम से सर्वथा भिन्न है ।

अन्य अनेक वादों की भाँति इस वाद की भी एक प्रमुख त्रुटि यह है कि यह आदिकाल के कुछ प्रारंभिक शब्दों की उत्पत्ति का स्वरूप बताने की गलत या सही चेष्टा तो करता है; किन्तु समग्र भाषा के विकास पर कोई प्रकाश नहीं डालता, जो वास्तव में उक्त शब्दों से सर्वथा भिन्न और अत्यधिक विस्तृत-विकसित-जटिल स्वरूप में सामने आती है ।

६. मैक्समूलर ने भाषा की उत्पत्ति के बारे में जो मत दिया और बाद में छोड़ दिया, उसे **अनुरणनमूलकतावाद** कहा जा सकता है । इस मत के अनुसार सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में अपनी एक विशिष्ट ध्वनि होती है जो टकराहट होने पर वायु-मंडल में फैल जाती है; किन्तु उसे हम सुन नहीं पाते । आदिकाल में मनुष्य को वह शक्ति प्राप्त थी जिससे वह इस ध्वनि को सुन लेता था और उस वस्तु के लिए उसी

ध्वनि का प्रयोग करने लगता था। इस वाद के अनुसार शब्द और अर्थ में एक रहस्यमय संबंध ठहरता है। जब भाषा अस्तित्व में आ गई और उपर्युक्त विशिष्ट ध्वनियों को सुन सकने की शक्ति की आवश्यकता समाप्त हो गई, तब यह शक्ति मनुष्य के पास से लुप्त हो गई। ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि इस वाद को स्वयं मैक्समूलर ने इस योग्य नहीं समझा कि वह इस पर टिके रहें।

१०. नोइरे के मत को **श्रमपरिहरणमूलकतावाद** की सञ्ज्ञा दी जाती है। मनुष्य की मांसपेशियों को जब अत्यधिक श्रम करना पड़ता है तो जोर से बार-बार श्वास-निक्षेप करने से उसे विश्राम-सा मिलता है। इस प्रक्रिया के साथ-साथ मनुष्य अपनी स्वरतंत्रियों में कम्पन भी उत्पन्न होने देता है। फलस्वरूप कुछ ध्वनियों की सृष्टि होती है। इस वाद के अनुसार इस प्रकार की ध्वनियाँ अपने-अपने कार्यों का अर्थ देने के लिए प्रयुक्त होने लगी होंगी। यह वाद भी थोड़े-से शब्दों की उत्पत्ति पर ही प्रकाश डालने की चेष्टा करता है; समग्र भाषा के उद्गम के सम्बन्ध में इससे कोई जानकारी नही प्राप्त होती।

११. विवेचन के बजाय अज्ञानपूर्ण आस्था पर आधारित वादों को छोड़ दें तो उपर्युक्त वादों में से एक भी वाद ऐसा नहीं है जो भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न अकेले हल कर सके, इस बात पर अधिकांश भाषिक एकमत है। सामान्यतः ऐसा समझा जाता है कि मनुष्य की आदिम शब्दावली में कुछ अंश अनुकरणमूलक था, कुछ आवेगीमूलक और कुछ श्रमपरिहरणमूलक। भाषा के विकास को डार्विन के विकासवाद की पृष्ठभूमि में समझने की चेष्टा की जाती है। मनुष्य की शारीरिक स्थिति नस्ल की दृष्टि से सदैव आज की-सी नहीं रही है। जिस समय मनुष्य का शरीर आज की तरह का नहीं था, उसकी शक्तियाँ आज की तरह की नहीं थीं, उस समय उसने भाषा का प्रारम्भ भी उस प्रकार नहीं किया होगा जिस प्रकार हम अपनी कल्पना के सहारे आज सोच सकते हैं। वास्तव में भाषा की उत्पत्ति पर किया गया यह सारा चिन्तन व्यर्थ और निष्प्रयोजन है। उपर्युक्त वादों के पीछे मूल मान्यता इस प्रकार की रहती है मानो मानव-समाज आज की-सी विकसित अवस्था में विद्यमान था, उसके पास केवल भाषा की कमी थी। इस स्थिति को मानकर तब यह कल्पना करने का प्रयत्न किया जाता है कि ऐसा समाज किस प्रकार भाषा आरंभ करेगा। चिन्तन की यह दिशा ही त्रुटिपूर्ण है। इसी प्रकार सोचते रहने से हमें कुछ अधिक उत्कृष्ट परिणाम मिलने की आशा है, ऐसा सोचना नितान्त भ्रामक है। इस प्रकार सोचने से हमें केवल विभिन्न कल्पनाएँ प्राप्त हो सकती हैं और उनका खंडन-मंडन भी काल्पनिक ही हो सकता है। हम अतीत के अन्धकारपूर्ण युग में किसी विन्दु पर अपनी यात्रा आरम्भ करते हैं और दो-चार कदम टटोलकर अंधकार में ही इधर-उधर चलते हैं, फिर हार जाते हैं और थककर बैठ जाते हैं। यदि हम ऐसी पद्धति

से किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं तो उसकी पुष्टि के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं होता। यदि हमारे पास कुछ प्रमाण हों तो उपर्युक्त वादों में से किसी को भी सही सिद्ध किया जा सकता है।

१२. कुछ विद्वानों ने इस बात का निरीक्षण किया है कि शिशु भाषा किस प्रकार सीखता है। कुछ जीवविज्ञानियों की मान्यता है कि शिशु जिन-जिन अवस्थाओं से गुजरता है, उन-उन अवस्थाओं से मानव-जाति गुजरी है। कुछ महीनों में ही जिस प्रकार शिशु गर्भ मे पूर्णता प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार असंख्य वर्षों मे मनुष्य आज की स्थिति तक पहुँचा है। कुछ भाषिकों ने इसका यह तात्पर्य निकाला है कि बच्चा आज किस प्रकार भाषा सीखता है, इसका ज्ञान हमें यह जानकारी भी दे सकेगा कि मनुष्य-जाति ने भाषा किस प्रकार अर्जित की है। इसी धारणा के आधार पर कुछ प्रयोगों की भी राय दी जाती है, कुछ प्रयोग हुए भी हैं; किन्तु यह धारणा भी उपयोगी नहीं है। जीवविज्ञानियों का उपर्युक्त मत केवल उस समय तक के लिए है जब तक कि शिशु अपना आकार नहीं ग्रहण कर लेता। इसी मत को उपर्युक्त भाषिकों की तरह खींचा जाय तो क्या यह कल्पना नहीं की जा सकती कि जिस प्रकार शिशु बढ़ते-बढ़ते वृद्ध हो जाता है और मर जाता है, उसी प्रकार मानव-जाति युग-युग में बूढ़ी हो गई है और मर गई है; और क्या यह कल्पना करना उचित होगा? आज का शिशु अपने समाज की विकसित भाषा को अर्जित-भर करता है; क्या आदि काल मे मनुष्य-समाज के लिए ऐसी ही विकसित भाषा लेकर कोई प्रतीक्षा कर रहा था कि मानव-जाति जन्म ले और मैं उसे यह भाषा सिखा दूँ? नवजात शिशुओं को समाज से पृथक् रखकर उन पर प्रयोग करने के पहले हमें यह सोच लेना चाहिए कि क्या मनुष्य की सन्तान की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों की संभावनाएँ आज वही होती हैं जो आदि काल में मनुष्य के पूर्वज की थीं? क्या आज हम वही नैसर्गिक परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकते हैं जो आदि काल में विद्यमान थीं? जन्म के तुरन्त बाद यदि कई शिशुओं को एकत्र कर दिया जाय और उनकी चिन्ता छोड़ दी जाय तब तो वे मर ही जायँगे; किन्तु यदि उन्हें मौन रहकर दूध पिलाते रहा जाय तो प्रश्न उठता है कि दूध पिलाते रहने की यह प्रक्रिया क्या अनन्त काल से इसी प्रकार चलती आ रही है; इसका कोई दूसरा स्वरूप कभी नहीं रहा? यदि थोड़ी देर के लिए इसे भी मान लें तो क्या उस समय भी माताएँ चुपचाप दूध पिला देती थीं और मौन रहकर इसी प्रकार के प्रयोग किया करती थीं? मेरी दृष्टि में यह आशा-वादिता निराधार है और शिशु के भाषा-अर्जन से भाषा की उत्पत्ति पर किसी प्रकार का प्रकाश पड़ सकता है, ऐसा सोचना नितान्त हास्यास्पद है। फिर भी, कुछ भाषिकों ने इस प्रकार के प्रयत्न किये हैं, इसलिए इस बात का यहाँ उल्लेख कर दिया गया है।

१३. कुछ भाषिकों ने यह आशा भी प्रकट की है कि आदिम जातियों की भापाओं का अध्ययन करने से भाषा की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ सकता है। इस धारणा के पीछे काम करने वाली भावना यह है कि सभ्य समाज की भाषाओं में परिवर्त्तन की संभावना अधिक होती है। किन्तु यह बात भी निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि आदिवासियों की भाषाओं के अध्ययन से हमें आदिवासियों की भाषाओं के बारे में ही जानकारी मिलेगी; इससे अधिक कुछ हाथ नहीं लगेगा। यह विचार भ्रामक है कि भाषा के 'गठन' में किसी प्रकार का पुरानापन हमें सभी आदिवासियों की भाषाओं में मिल सकता है। संसार की समस्त आदिम जातियों की भाषाओ का अध्ययन करके जो सामान्य तत्त्व निकाले जायँगे वे सभ्यतम जातियों की भाषाओं में सहज ही प्राप्त हो जायँगे, यह बिना किसी सन्देह के कहा जा सकता है। फिर भी कुछ लोग आदिम जातियों की भाषाओं से इस समस्या पर कुछ प्रकाश पड़ने की आशा करते हैं।

१४. भाषा की उत्पत्ति की खोज में एक सर्वथा भिन्न दिशा यह है कि आज की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय और उससे ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाले जायँ—अर्थात् भाषा के उद्गम से चलकर आज तक पहुँचने की चेष्टा करने के बजाय हम आज से चलकर भाषा के उद्गम तक पहुँचने की चेष्टा करें। आज की भाषाओं की तुलना करके उन्हें परिवारों में वर्गबद्ध किया जाता है और उस मूल भाषा की वैज्ञानिक पुनर्रचना की जाती है। कभी-कभी उस मूल भाषा के लिखित रूप हमें सुरक्षित मिल जाते हैं, जिनसे हमारे निष्कर्षों को बल मिलता है। इस प्रकार के अध्ययन से हमें यह विदित हो जाता है कि भाषा के परिवर्तन की दिशा सामान्यतः क्या होती है। इसके अतिरिक्त हम भूतकाल में उस समय-विन्दु तक पहुँच जाते है जब आज बोली जाने वाली अगणित भाषाएँ विद्यमान नहीं थीं; बल्कि कोई ऐसी भाषा बोली जाती थी जो बदलते-बदलते आज की अनेक भाषाओं का रूप ले चुकी है। इन मूल भाषाओं का पारस्परिक संबंध स्थापित करने के भी प्रयत्न किये जाते हैं। इस प्रकार हम ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ते हैं।

इस पद्धति की दिशा सही है क्योंकि इसमें कल्पना का काम नहीं होता, तथ्यों का काम होता है। फिर भी अभी हम उस स्थान तक पहुँचने की आशा नहीं कर सकते जब हम यह कह सकें कि मनुष्य ने भाषा इस प्रकार आरंभ की, उसकी भाषा में ये ध्वनियाँ थी, ये शब्द थे और यह वाक्य-रचना थी। संभावना ऐसी दिखती है कि इस दिशा में भी हम एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सकेंगे। इसीलिए गंभीर और ठोस कार्य में विश्वास करने वाले भाषिक इस ओर माथापच्ची करना अच्छा नहीं समझते।

पाँचवाँ अध्याय

भाषा : एक वैज्ञानिक दृष्टि

१. 'भाषा' क्या है, इसके संबंध में लोगों को स्पष्ट धारणा कम ही होती है। वैज्ञानिक दृष्टि से हम भाषा से क्या तात्पर्य लगाते हैं, इसका विवेचन पीछे किया जा चुका है। यहाँ हमारा तात्पर्य 'भाषा' के उस स्वरूप से होता है, जिसकी चर्चा 'भाषा की परिभाषा' के अन्तर्गत की जा चुकी है।

२. भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न यद्यपि बहुत उचित नहीं माना जाता, तथापि सामान्य लोगो को इसमें बड़ी रुचि रहती है। इस संबंध में रहस्यवादी और चमत्कार-पूर्ण कारणों का आश्रय लेना स्पष्ट ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विपरीत है। दैवी उत्पत्ति और सुव्यवस्थित निर्माण की अपेक्षा भाषा के उद्‌गम का प्रकृतिवादी दृष्टि-कोण अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। प्राकृतिक ढंग से ही अनुकरण, मनोभावा-भिव्यंजन और श्रमपरिहरण आदि की शब्दावली उपस्थित हो गई होगी।

३. जहाँ तक भाषा के गठन का प्रश्न है, हम इतना कह सकते हैं कि भाषा एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ उपव्यवस्थाएँ होती हैं, जिनका परिचय पीछे के पृष्ठों में दिया जा चुका है। संसार की सारी भाषाएँ लें तो उनकी व्यवस्थाओं में बड़ी विविधता मिलती है। उनके साम्य के विषय में निश्चयपूर्वक केवल इस प्रकार की मोटी बातें कहीं जा सकती हैं कि संसार की सारी भाषाओं में स्वनिम होते हैं और सारी भाषाओं मे मर्षिम होते हैं। इसके आगे स्वानिमिक, व्या-करणिक, मर्षस्वानिमिक, स्वनिक तथा सीमान्तिक व्यवस्थाओं में भिन्नता मिलती है। स्वानिमिक स्तर पर मिलने वाली विविधता का अनुमान इससे हो सकता है कि हवाई भाषा मे कुल १३ खंडीय स्वनिम हैं और उत्तरी काकेशस की एक भाषा में उनकी सख्या ७५ के लगभग है। हिन्दी स्वानिमी में /ल्, ङ, ग्/ का अनुक्रम संभव नही है; किन्तु कोर्कू स्वानिमी को वह स्वीकार है जिसमें /फुल्ङ्गी/-जैसे शब्द उपलब्ध होते है। अँगरेजी के 'नॉलेज़' 'नोउ' तथा 'निट'-जैसे शब्द, जिनकी रूढ़ वर्त्तनी में /न्/ के पहले 'क्' लिखा जाता है लेकिन उच्चरित नहीं होता, इस बात के प्रमाण है कि अँगरेजी की स्वानिमिक व्यवस्था में 'क्न्' अनुक्रम निषिद्ध है। रूसी भाषा की स्वानिमिक व्यवस्था में यह निषेध नहीं है और उसमें /क्न्यीगा/-सदृश शब्द प्राप्त होते हैं। व्याकरणिक व्यवस्थाओं की विविधता के उदाहरणों में चीनी, तुर्की और एस्किमो भाषा का

उल्लेख किया जा सकता है। चीनी में प्रत्येक शब्द स्वतंत्र होता है, उसमें और किसी तत्त्व का योग नहीं हो सकता और किसी शब्द के खंड नहीं किये जा सकते। तुर्की में धातु में प्रत्यय पर प्रत्यय जुडते चले जाते है। एस्किमो में तो शब्द और वाक्य में कोई भेद ही नहीं रहता, पूरा-का-पूरा वाक्य लम्बा होते हुए भी शब्द-सा बना होता है। मर्षस्वानिमिक व्यवस्था व्याकरणिक तथा स्वानिमिक व्यवस्थाओं को जोड़ने वाली कड़ी है और मर्पिमों तथा स्वनिमों की व्यवस्था के विभेदों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है; ऐसी स्थिति में मर्षस्वानिमी की विविधता स्वाभाविक ही है। स्वनिक व्यवस्थाओं मे भी पर्याप्त भेद मिलते है। हिन्दी स्वनिम /क्/ की स्वनिक परिधि अँगरेजी स्वनिम /क्/ की स्वनिक परिधि की अपेक्षा सकीर्ण है क्योकि अँगरेजी में /क्/ स्वनिम हिन्दी /ख्/ स्वनिम की परिधि को भी समेटे हुए है। इसी प्रकार अँगरेजी के /ल्/ स्वनिम की स्वनिक परिधि रूसी के दो मिलते-जुलते स्वनिमों की स्वनिक परिधियों के लगभग बैठती है। सीमान्तिक व्यवस्थाओं के विभेदों के उदाहरणस्वरूप हम हिन्दी का 'कल' शब्द ले सकते हैं। हिन्दी में बीता हुआ कल भी 'कल' होता है और आगामी कल भी 'कल' कहलाता है। हिन्दी में यह एक ही मर्षिम है जिसका अर्थ है—'आज' से लगा हुआ दिन। किन्तु अँगरेजी में इन अर्थों में 'यस्टर्डे' और 'टुमारो' का प्रयोग होता है। हिन्दी के 'कल' का समूचा अर्थ देने वाला शब्द अँगरेजी में नहीं है और अँगरेजी के 'यस्टर्डे' तथा 'टुमारो' का अर्थ देने वाले स्वतंत्र शब्द हिन्दी में नहीं है। इसी प्रकार 'डाउट' और 'सस्पेक्ट' दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ अँगरेजी में हैं जिनका अर्थ एक-दूसरे से भिन्न है। 'डाउट' में निषेधात्मकता मौजूद रहती है और 'सस्पेक्ट' में अस्त्यात्मकता। किसी की बात में अविश्वास हो रहा हो तो 'डाउट' शब्द का प्रयोग होगा; किसी व्यक्ति के अपराधी होने की बात मन में उठ रही हो (विश्वास की पूर्व-स्थिति) तो 'सस्पेक्ट' शब्द का प्रयोग होगा। हिन्दी की सीमान्तिक व्यवस्था में इस भेदीकरण का प्रावधान नहीं है; उसमें 'सन्देह करना' या 'शक करना' का प्रयोग-क्षेत्र दोनों ही प्रसंगों में होगा।

४. 'भाषा' के संबंध में जब सामान्य सुशिक्षित जनों में चर्चा होती है तब भाषा की अपेक्षा लिपि को अधिक प्रमुखता दी जाती है। ऐसा लगता है मानो लिपि प्रधान वस्तु हो और बोली जानेवाली भाषा गौण हो। अधिक-से-अधिक, इनके लिए 'लिखित भाषा' तथा 'उच्चरित भाषा'-सरीखे शब्दानुक्रमों का प्रयोग होता है; जिनसे ऐसी ध्वनि निकलती है मानो इन दोनों को मिलाकर भाषा बनती है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह सही नहीं है। 'भाषा' केवल वह है जिसे हम बोलते हैं; इसलिए उसके पहले 'उच्चरित' आदि विशेषण लगाने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। दूसरी ओर, लिपिबद्ध रूप 'भाषा' नहीं होता, इसलिए उसे 'लिखित' ही सही, 'भाषा' नहीं कहना चाहिए। लिपि में हम भाषा को किसी प्रकार सुरक्षित करने का प्रयास करते है। भारतीय विद्यार्थी अँगरेजी भाषा का अध्ययन पुस्तकों से करता है; इसलिए उसे

ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है कि पुस्तक और पुस्तक में लिखित रूप अधिक प्रामाणिक वस्तु है। वास्तव में यह सही नहीं है और इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पुस्तकों की सहायता से कितनी ही अँगरेजी पढ़ लेने के बाद भी भारतीय विद्यार्थी को किसी अँगरेज की भाषा सुनकर समझ लेने में कठिनाई होती है और अँगरेजों की तरह बोलना भी हमें नहीं आता है। यदि कोई विदेशी हिन्दी की पुस्तकें पढ़-पढ़कर हिन्दी भाषा सीखे और उसका उच्चारण हम हिन्दीभाषियों से बहुत अधिक भिन्न हो तो हमें बड़ा अटपटा लगेगा। यदि यह उच्चारण इतना भिन्न हो जाय कि हमारी हिन्दी समझने में उसे कठिनाई होने लगे तब तो हम उसकी भाषा को 'हिन्दी' कहते हिचकिचाने लगेंगे। हमारी अँगरेजी की स्थिति भी यही है। अँगरेजों को अँगरेजी बोलते सुनकर उनकी बात समझने में हमें कठिनाई होती है और हमें अँगरेजी बोलते सुनकर हमारी बात समझने में अँगरेजों को कठिनाई होती है। इसका कारण यह है कि पुस्तकों की सहायता से हम अँगरेजी की स्वानिमिक, मर्षस्वानिमिक तथा स्वनिक उपव्यवस्थाओं का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। अँगरेजी के दो स्वनिम जिन्हें 'वी' तथा 'डब्ल्यू' लिपिचिह्नों द्वारा द्योतित किया जाता है, हमारी अँगरेजी में पृथक्-पृथक् नहीं रह पाते। ब्रिटिश अँगरेजी की स्वानिमी का नियम है कि शब्द के अन्त में तथा व्यंजन के पूर्व /र्/ स्वनिम न आए; किन्तु हमें अँगरेजी की वर्त्तनी में जहाँ कहीं 'र्' लिखा दिखाई देता है, हम उसका उच्चारण अवश्य करते हैं। 'कार' 'डोर', 'सर', 'मोर', 'बर्ड', 'यस्टर्डे' आदि शब्दों का उच्चारण जब हम करते हैं तो स्वानिमिक दृष्टि से अन्य त्रुटियों के अलावा यह त्रुटि भी होती है। इस प्रकार बहुवचन के अँगरेजी मर्षिम {-ज़्} का रूप हमारी अँगरेजी में वही नहीं होता जो अँगरेजों की अँगरेजी में होता है। इस मर्षिम के /-ज़्/ संमर्ष का प्रयोग हम कम करते हैं; अनेक स्थलों पर (व्यंजनों के बाद) इसके बजाय /-स्/ संमर्ष का प्रयोग करते हैं; स्वरों के बाद अवश्य ही उक्त संमर्ष हमारी अँगरेजी में भी मिलता है। *डाग्स, *पिग्स, *किड्स, *बीन्स, *रिम्स आदि शब्दों में अँगरेजी मर्षस्वानिमी के अनुसार /-ज़्/ होना चाहिए, /-स्/ नहीं। अँगरेजी में एक /ल़्/ स्वनिम है और हिन्दी में भी एक /ल्/ स्वनिम है; किन्तु इनके स्वनिक मूल्य में अन्तर है क्योंकि दोनों के उच्चारण-क्षेत्र की परिधियाँ भिन्न हैं। अँगरेजी के फुल, किल, गोल्ड आदि शब्दों में /ल़्/ स्वनिम का जो स्वनिक मूल्य है, वह मूल्य हम उसे कभी नहीं देते। अँगरेजी के इन शब्दों का उच्चारण करते समय हम अँगरेजी के /ल्/ स्वनिम को स्वनिक मूल्य देते हैं हिन्दी के /ल्/ स्वनिम का। व्याकरणिक और सीमान्तिक उपव्यवस्थाएँ ऐसी हैं जिन्हें हम पुस्तकों की सहायता से सीख सकते हैं; यद्यपि इसमें बहुत अधिक समय और बहुत अधिक अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है। इन दोनों में भी सीमान्तिकी इस प्रकार अर्जित करने में अधिक श्रमसाध्य है।

४·१ भाषा से लिपि का कोई मुकाबला नहीं है। भाषा मनुष्य के आदि-काल

से चली आ रही है जब कि लिपि अपेक्षाकृत बहुत नई और बहुत बाद की वस्तु है। परन्तु इन दोनों में कोई विरोध नहीं है; केवल इनकी आपेक्षिक महत्ता में अन्तर है। कार्य की दृष्टि से दोनों की अपनी-अपनी उपयोगिता है। भाषा की उपयोगिता के संबंध में इससे अधिक कुछ कहना आवश्यक नहीं है कि भाषा के बिना हमारे समाज का अस्तित्व ही संभव नहीं है। आज के समाज में प्रत्येक व्यक्ति का कार्य-क्षेत्र निश्चित, सीमित और विशिष्ट होता है; इसका कारण यह है कि उसके जीवन के अन्य सभी अंगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज के अन्य लोग कार्यरत हैं। कार्य-विभाजन की यह व्यवस्था भाषा के द्वारा ही सुचारु रूप से चल रही है। लिपि भाषा की सहायिका है क्योंकि देश और काल के अन्तर को लाँघने में भाषा लिपि का ही आश्रय लेती रही है। हम जो कुछ बोलते हैं, वह बोलने के साथ ही नष्ट हो जाता है। यदि उसे लिपिबद्ध कर दिया जाय तो उसे हम दुनियाँ के किसी कोने में भेज सकते हैं। संप्रेषण का यह कार्य चाहे कोई विशेष दूत करे चाहे डाक-घर। इसी प्रकार हम अपनी बात लिखकर रख जायँ तो आनेवाली अनेक पीढ़ियों को हमारी बात सुलभ रहेगी। अनेक दस्तावेज और प्रख्यात विद्वानों के ग्रन्थ हमें लिपि के इस महत्त्व का स्मरण कराते हैं। आज के समाज में भाषा की जो कार्य-कारिता है, वह प्रायः ही लिपि के माध्यम से व्यक्त होती है। प्रेस और टाइपराइटर हमारे समाज के आवश्यक अंग हैं। किन्तु पुस्तकों में लिपि की सहायता से भाषा सीखने वाले विद्यार्थियों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भाषा लिपि पर आश्रित नहीं है बल्कि लिपि भाषा पर आश्रित है। यदि दुनियाँ से लिपि का अस्तित्व समाप्त हो जाय तो भाषा के अस्तित्व पर आँच न आएगी; लिपि के जन्म लेने के लाखों वर्ष पहले से भाषा हमारे बीच मौजूद थी ही। परन्तु यदि भाषा समाप्त हो जाय तो लिपि का अस्तित्व समाप्त हो जायगा। अनेक गूँगे लिपि जानते हैं और उसकी सहायता से कार्य चलाते हैं—यह बात उक्त निष्कर्ष का खंडन नहीं करती। लिपि उन्हीं शब्दों को अंकित करती है जो किसी समाज में बोले जाते हैं। यदि इन बोले जाने वाले सारे शब्दों तथा वाक्यों का अन्त हो जाय तो लिपि के पास लिखने के लिए कौन-सी सामग्री बचेगी ?

४·२ लिपि भाषा की पूर्णता का दावा नहीं कर सकती। खंडेतर स्वनिमों के अंकन की समुचित व्यवस्था लिपि में नहीं मिलती; भाषा में ही उनका प्रयोग मिलता है। ध्वनि का आरोह-अवरोह लिपि में अंकित नहीं किया जा सकता। कोई वक्ता अपने ओजस्वी भाषण से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर लेता है; किन्तु लिपिबद्ध करते ही उसके ओज में क्षीणता आ जाती है। किसी गायक से कोई गीत सुनकर हम झूम-झूम जाते हैं; बहुत संभव है कि लिखित रूप में वही गीत देखकर हमें गहरी निराशा हो। किसी व्यक्ति को बोलते सुनकर उस व्यक्ति के बारे में हमें बहुत-सी

जानकारी हो जाती है—वह स्त्री है या पुरुष, बालक है या वृद्ध आदि; लेकिन लिपि से यह जानकारी शायद ही कभी मिलती हो। एक ही वाक्य कभी बड़ी नरमी के साथ कहा जाता है, कभी बड़े दुलार के साथ, कभी रुखाई के साथ और कभी अत्यत क्रोध के साथ। लेकिन यह संभव नही है कि कोई वाक्य कभी तो हम बड़े हर्ष के साथ लिखें, कभी उसे बड़े दुःख के साथ लिखें, कभी नरमी के साथ लिखें और कभी कड़ाई के साथ लिखें। यह संभव है कि लिखते समय हमारे मन में ये भाव हो लेकिन लिपि एक ही वाक्य में इन विभिन्न भावों को भरने के सामर्थ्य से वंचित है। भाषा में तो एक ही भाव की विभिन्न मात्राएँ तक व्यक्त हो जाती हैं।

४·३ यदि कोई व्यक्ति हमसे दस कदम आगे जा रहा है तो उसका ध्यान आकृष्ट करने के लिए हमें भाषा का आश्रय लेना पड़ेगा; लिपि से काम नहीं चलेगा। यदि कोई व्यक्ति दीवाल के उस पार है तो विचार-विनिमय भाषा से ही हो सकता है, लिपि से नहीं। यदि अंधकार है तो भाषा काम देगी, आँखें कमजोर हैं और चश्मा नहीं है तो भी भाषा काम देगी, लिखने के उपकरण नहीं हैं तो भाषा काम देगी। भाषा के लिए आवश्यक उपकरण हैं—मुँह और कान। ये सदैव हमारे साथ रहते हैं, इसलिए भाषा का प्रयोग कभी भी कहीं भी किया जा सकता है। भाषा बोली जाती है तो दूर तक सुनाई देती है, इसलिए हम दूर के व्यक्तियों का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं। लिपि से लाभ उठाने के लिए लोगों को अत्यंत समीप होना चाहिए ताकि आँखें काम कर सकें या इतना बड़ा लिखा होना चाहिए और आँखों के आगे फैला होना चाहिए कि दिखाई दे। भाषा सार्वजनिक सम्पत्ति है, लिपि पर सबका अधिकार नहीं हो पाया है। निरक्षर लोग दुनियाँ में करोड़ों हैं; लेकिन उन्हें लिपि-ज्ञान ही नही है, भाषा उन्हें आती है। यदि अंगों में कोई दोष न हो तो भाषा हर आदमी सीख लेता है। भला-चंगा आदमी लिपि भी उतने ही आग्रह से सीख ले यह आवश्यक नहीं है।

४ ४ भाषा की स्वाभाविकता का एक अंग यह भी है कि हम बोलने में लड़खड़ाते हैं, सोच-विचार में पड़ जाते हैं और आँ····ऊँ भी करते जाते हैं, जब-तब खाँसते-खखारते हैं, जिससे शब्दाभाव दूर करने का समय मिल जाय। लिपि में ये बाते समाप्त हो जाती हैं और उसमें सुव्यवस्थित तथा तराशा हुआ रूप ही सामने आता है।

५. देश और काल की सीमा लाँघने के लिए अब कुछ और भी साधन हो गये हैं। टेलीफोन और रेडियो से कोई बात तुरन्त ही देश-देशान्तर में फैल जाती है। देश-भेद को समाप्त करने के ये साधन कुछ बातों में लिपि की अपेक्षा श्रेष्ठ है। एक तो इनके द्वारा कोई बात पहुँचते देर नहीं लगती; दूसरे, इनमें भाषा का रूप अपेक्षाकृत स्वाभाविकता लिये रहता है क्योंकि इनमें भाषा सीधे सुनी जाती है, लिपि

की भाँति देखी नहीं जाती । किन्तु ये साधन अपेक्षाकृत व्ययसाध्य हैं और सर्वसुलभ नही है । रेडियो का अपना निश्चित कार्यक्रम होता है जिसमें कुछ निश्चित लोग ही निश्चित प्रकार से भाग ले सकते है । रेडियो द्वारा प्रसारित बात केवल वही लोग सुन सकते है जिन्हें किसी प्रकार रेडियो सुलभ है। रेडियो पर प्रसारित बात किसी व्यक्ति-विशेष के लिए नही होती; उसे प्रत्येक व्यक्ति रेडियो की सहायता से सुन सकता है । इसलिए गोपनीय सन्देशों के लिए रेडियो अनुपयुक्त है । टेलीफोन का उपयोग वही लोग कर सकते हैं जिनके पास टेलीफोन है, जिनकी उस तक पहुँच है। टेलीफोन पर सामान्यत: एक ही व्यक्ति एक बार में बोल सकता है और उसे एक बार में एक ही व्यक्ति सुन सकता है ।

५·१ ग्रामोफोन और टेपरिकार्डर ऐसे यंत्र हैं जो देश-भेद तथा काल-भेद दोनों को मिटाने में सहायक होते है । इनसे देश-भेद की समाप्ति तुरन्त नहीं हो सकती; इसके लिए ग्रामोफोन रिकार्ड अथवा टेप को वांछित स्थान पर किसी प्रकार भेजना होता है । ये दोनों साधन भी भाषा के प्रत्यक्ष रूप के प्रतिनिधि होते हैं क्योंकि इनके ग्रहण के लिए आँखों की नहीं, कानों की आवश्यकता पड़ती है । ये दोनों साधन भी व्ययसाध्य है और सर्वसुलभ नहीं हैं ।

६. उपर्युक्त साधन भाषा से निकले हैं और भाषा पर ही निर्भर हैं । अभिव्यक्ति की कुछ ऐसी प्रणालियाँ भी मिलती है जो भाषा से पृथक् है । ऐसी प्रणालियों में अंगों से किये जाने वाले संकेतों का भी स्थान है । हाथ के संकेत से हम किसी को बुला सकते है, किसी को बाहर निकाल सकते है और चर्चाधीन व्यक्ति की अनुपस्थिति अथवा वस्तु का अभाव द्योतित कर सकते हैं; सिर हिलाकर सहमति-असहमति की सूचना दे सकते हैं; आँखों से तरह-तरह की बातों की अभिव्यंजना कर सकते हैं। किन्तु संकेत श्रुतिग्राह्य न होने के कारण किसी भी व्यवधान के उपस्थित होने पर काम नहीं दे सकते । इसके अतिरिक्त सूक्ष्म बातों की व्यंजना भी संकेतों के द्वारा संभव नही है । उदाहरणार्थ, निम्नलिखित वाक्यों के अर्थ-भेदों की व्यंजना संकेतों के द्वारा कर सकना कितना कठिन है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है—

(१) बँगलौर में एक योगी जी रहते हैं ।

(२) कुछ लोग उन्हें पाखंडी कहते हैं लेकिन मुझे तो वे सच्चे योगी ही प्रतीत हुए ।

(३) रामदयाल शर्मा ने मुझे उनके बारे में बताया था ।

(४) पिछले सप्ताह बुधवार को ४.१५ की गाड़ी से मैं उनसे मिलने गया ।

(५) उन्हें देखकर मैं तो धन्य हो गया !

६·१ संकेत भाषा के सफल स्थानापन्न नहीं हो सकते लेकिन सफल सहयोगी अवश्य हो सकते हैं । अनेक वक्ता बोलने के साथ-साथ इंगित भी करते रहते हैं और

इससे उनके वक्तव्य को बल मिलता है। इंगितों को भाषा के पूरक के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।

६·२ शहरों में सड़कों के चौराहों पर यातायात की सुविधा के लिए रोशनी की एक अभिव्यक्ति-प्रणाली मिलती है। इसके अनुसार हरी रोशनी का अर्थ होता है कि सवारियों को चलते जाने की अनुमति है, रुकने की आवश्यकता नहीं है। लाल रोशनी का अर्थ है कि सवारियों को रुक जाना चाहिए। पीली रोशनी संक्रान्ति चिह्न है। इसका अर्थ है कि रुकी हुई सवारियों को चलने की तैयारी करनी चाहिए (क्योंकि हरी रोशनी आने वाली है) और चल रही सवारियों को रुकने की (क्योंकि लाल रोशनी आने वाली है)।

६·३ रेलों के लिए भी रंगों की अभिव्यक्ति-व्यवस्था मिलती है। हरा रंग रेलों को चलने का और लाल रंग रुकने का संकेत करता है। रात में इस कार्य के लिए रोशनी का प्रयोग किया जाता है और दिन में झंडियों का। ये व्यवस्थाएँ भी दृश्य हैं, श्रव्य नहीं; और इनकी अभिव्यक्ति की क्षमता भी अत्यधिक सीमित है। इस प्रकार की अन्य अभिव्यक्ति-प्रणालियों में भी ये कमियाँ मिलती हैं। इस स्थिति में भाषा ही समर्थतम अभिव्यक्ति-प्रणाली सिद्ध होती है।

७. बहुत-से लोग भ्रान्तिवश भाषा और साहित्य को एक ही समझने लगते है। बी० ए० के विद्यार्थी अपने विषयों के चयन के सन्दर्भ में 'तीनों भाषाएँ' तथा 'तीनों साहित्य' शब्दानुक्रमों का वैकल्पिक रूप से प्रयोग करते हैं। साहित्यप्रेमी के लिए किसी घसियारे के वक्तव्य और तुलसीदास के काव्य में जमीन-आसमान का अन्तर है। साहित्यप्रेमी शायद तुलसीदास को छोड़ना नहीं पसन्द करेगा और घसियारे के अनगढ़ गद्य के पास फटकना नहीं चाहेगा। भाषिक के लिए इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि उसका सम्बन्ध साहित्य से बिलकुल नहीं होता। उसकी रुचि केवल भाषा में होती है; उसकी ध्वनियों, उसके शब्दों और उसकी वाक्य-रचना में होती है; इस कारण वह अपनी रुचि की सामग्री दोनों में ही पाता है; बल्कि इन दोनों में उसको घसियारे की भाषा अधिक अच्छी लगेगी, क्योंकि वह जीवित भाषा है और उसे वह उस भाषा के बोलनेवालों के मुँह से सुन सकता है; यदि कोई भाषिक तत्त्व उसे सहज ही नहीं प्राप्त हो रहा है तो वह घसियारे से किसी भी प्रसंग पर इच्छानुसार कितनी ही देर तक कुछ सुन सकता है। तुलसीदास की भाषा के साथ यह सुविधा प्राप्त नहीं है।

७·१ साहित्य दो प्रकार का होता है—एक लिखित और दूसरा मौखिक। मौखिक परम्परा से चलते रहने वाले साहित्य को लोकसाहित्य कहा जाता है। लोक-साहित्य सभी भाषाओं में मिलता है, लिखित साहित्य कुछ ही में मिलता है। यदि किसी भाषा में लिखित साहित्य विद्यमान है तो इससे उस 'भाषा' की कोई समृद्धि-

असमृद्धि नहीं होती । यदि किसी भाषा में लोकसाहित्य भी न मिले तो भी उस 'भाषा' पर किसी प्रकार का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता । भाषा साहित्य से सर्वथा भिन्न वस्तु है और जहाँ तक एक भाषिक के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रश्न है, समृद्ध साहित्य वाली भाषा जितनी आदरणीय और आकर्षक होती है, उतनी ही आदरणीय और आकर्षक नितान्त साहित्यहीन भाषा भी होती है ।

८. एक व्यक्ति की भाषा किसी भी दूसरे व्यक्ति की भाषा के सर्वथा समान नहीं होती । प्रत्येक व्यक्ति की भाषा में मिलने वाले भेदों को ध्यान में रखते हुए हमें एक व्यक्ति की भाषा को भी एक स्वतंत्र इकाई के रूप में देखना पड़ता है । एक व्यक्ति की भाषा को **अनुली** कहते हैं । मिलती-जुलती अनुलियों का समूह **बोली** कहलाता है । मिलती-जुलती बोलियों के समूह को भी एक वर्ग में रखते हैं और उनमें से किसी प्रमुख बोली को **भाषा** कहकर वर्ग की शेष सब बोलियों को उसी भाषा में समाहित कर देते हैं। इस प्रकार यदि हम एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की ओर बढ़ते है तो हमें भाषा में भेद मिलने लगता है । व्यक्ति देश-भेद की लघुतम इकाई है । देश-भेद से हमें अनुलियाँ मिलती हैं, देश-भेद से बोलियाँ मिलती हैं और इसके बाद देश-भेद से ही विभिन्न भाषाएँ मिलती हैं । किसी भाषा के बोलने वाले करोड़ों होते है और १९४० ई० के लगभग चितीमाचा भाषा के बोलने वाले कुल दो व्यक्ति थे । जहाँ तक भाषिकी का सम्बन्ध है, वैज्ञानिक दृष्टि से इनमें मूल्यगत अन्तर नहीं है । अधिक विस्तारवाली भाषा में अधिक विभेद होते हैं और कम विस्तार वाली में प्रायः कम ; एक के बोलने वाले अधिक हैं और दूसरी के बोलने वाले कम : वैज्ञानिक दृष्टि से दोनों के वैषम्य के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है । जहाँ तक भाषा के गठन का सम्बन्ध है, दोनों ही भाषाएँ भाषिक के लिए काम की हैं । इस आधार पर किसी भाषा को महान् और किसी को निम्न बताना अवैज्ञानिक है ।

भाषा और बोली का पारस्परिक सम्बन्ध निम्नलिखित प्रकार का हो सकता है—

(१) किसी एक पुरानी भाषा से परिवर्तित होते-होते अनेक नये रूप बन जाते हैं । इन रूपों को पहले उस भाषा की बोलियों के रूप में स्वीकार किया जाता है । भेद की अधिकता होने पर इन्हें भाषा कहा जाने लगता है । यह दृष्टिकोण ऐतिहासिक है ।

(२) वर्णनात्मक दृष्टि से, मिलती-जुलती बोलियों को एक भाषा के क्षेत्र में प्रचलित माना जाता है । उक्त बोलियों में से जिस बोली को राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक या साहित्यिक कारणों से इतना प्रचार मिल जाता है कि अन्य बोलियों के क्षेत्र में भी समाज का उच्च तथा मध्य वर्ग उसका व्यवहार कुछ प्रसंगों में करने लगता है, उसे 'भाषा' की संज्ञा दे दी जाती है । शेष बोलियाँ उस 'भाषा' की बोलियाँ कही जाने लगती हैं । इस परिस्थिति में यह संभव

है कि ऐतिहासिक दृष्टि से ये सभी बोलियाँ (जिनमें वह बोली भी सम्मिलित है जिसे 'भाषा' संज्ञा दे दी गई है) किसी एक ही भाषा से उत्पन्न हुई हों।

(३) कभी-कभी ऐसी बोलियाँ भी एक वर्ग में रख दी जाती हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न भाषाओं से निकली हैं। इनमें से जिस बोली को प्रमुखता मिल जाती है और जिसका प्रयोग अन्य बोलियों के क्षेत्रों में भी यदा-कदा होने लगता है, उसे 'भाषा' कहा जाने लगता है और शेष बोलियाँ उसकी बोलियाँ मानी जाने लगती हैं। यह स्थिति वर्णनात्मक दृष्टि से सही है; ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं। हिन्दी-क्षेत्र में भोजपुरी, मैथिली, मगही का जन्म मागधी अपभ्रंश से हुआ है, अवधी का अर्धमागधी से और ब्रज का शौरसेनी से। फिर भी वर्णनात्मक स्तर पर इन्हे बोलियों के एक ही वर्ग में रक्खा जाता है। खड़ी बोली हिन्दी, जो कि उक्त बोलियों की भाँति ही एक बोली है, उक्त बोलियों के क्षेत्र में सामान्य रूप से गद्य-पद्य का माध्यम है और सुशिक्षित लोगों के वार्तालाप का माध्यम है। इस कारण खड़ी बोली हिन्दी को 'भाषा' कहा जाने लगा है और उपर्युक्त अन्य बोलियाँ उसकी बोलियाँ मानी जाने लगी हैं।

(४) परस्पर मिलती-जुलती बोलियों के समूह को कभी एक ही नाम से अभिहित किया जाता है। यह नाम एक 'भाषा' का माना जाता है; किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उन बोलियों में से किसी एक को अन्य बोलियों के क्षेत्र में प्रमुखता प्राप्त हो। ऐसी स्थिति में किसी एक बोली को 'भाषा' तथा अन्य बोलियों को उस भाषा की बोलियाँ कहना सभव नही होता।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बोली से भिन्न भाषा की कोई सत्ता नहीं होती। वास्तव में भाषा में कोई भाषागत कारण नहीं होते, जिनसे उसे 'बोली' न कहकर 'भाषा' कहा जाय। इसलिए 'बोली' को निम्न स्तर देना तथा 'भाषा' को उच्च स्तर देना भाषिकी के अपने दृष्टिकोण से अवैज्ञानिक है। प्रचार-बहुलता तथा विभिन्न बोलियों के क्षेत्र में प्रयोज्यता आदि दृष्टिकोणों के आधार पर भले ही उनके स्तर में भेद किया जाय।

अधिक विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त होने पर 'भाषा' के कई अन्तर्भाग मानने होते हैं। ऐसी स्थिति में बड़े भागों को 'उपभाषा' और इन बड़े भागों के अन्तर्गत मिलने वाले छोटे भागों को 'बोली' कहा जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'उपभाषा' का भी क्षेत्र होता है और 'उपभाषा' के नाम पर हम जिसका उदाहरण देते है, वह कोई बोली ही होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी (खड़ी बोली) भाषा की एक उपभाषा अवधी है, जिसकी एक बोली बैसवाड़ी है।

भाषा, उपभाषा, बोली आदि नामों के आधार पर हम किसी को अधिक और किसी को कम सम्माननीय मानने लगें तो यह एक बड़ी अवैज्ञानिक बात होगी। इस पुस्तक में 'भाषा' शब्द का प्रयोग उक्त भेदों की उपेक्षा करते हुए किया गया है।

९. यह न सोचना चाहिए कि भाषा स्थिर वस्तु है। भाषा में प्रति पल परिवर्त्तन होता रहता है। यह परिवर्त्तन अत्यन्त मन्थर गति से होता है जिसके कारण हमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन होता नहीं दिखाई देता और सैकड़ों वर्ष बाद हम जान पाते हैं कि भाषा कहीं-कहीं बदल गई है। परिवर्त्तन की गति की इस मन्दता का कारण यह है कि समाज में भाषा को बोधगम्य रहना पड़ता है और इस शर्त के कारण हम अपने निकटस्थ व्यक्तियों की भाँति ही बोलने की चेष्टा करते हैं ताकि हम औरों से अलग न हो जायँ। इसी प्रकार हमारी चेष्टा रहती है कि हम अपनी बात औरों पर स्पष्ट रूप से प्रकट कर सकें तथा और लोग हमारी बात को भली-भाँति समझ सकें।

किन्तु मन्दता के बावजूद परिवर्त्तन की गति रुकती नहीं है और कालान्तर में एक भाषा का रूप इतना अधिक बदल जाता है कि उसे पहचानने मे कठिनाई होने लगती है। अलगाव आने से एक ही भाषा कालान्तर में अनेक भिन्न-भिन्न भाषाओं का रूप ग्रहण कर लेती है। इन भाषाओं में वैषम्य भी होता है और साम्य भी। वैषम्य किन्हीं नियमों पर आधारित होता है, आकस्मिक और उच्छृङ्खल नहीं होता। रूसी भाषा के द्वा, त्री, प्याच, द्येस्यत्य, चाश्का शब्दों का साम्य संस्कृत के द्वौ (< द्वि), त्रि, पंच, दश, चषक से देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। ये दोनों भाषाएँ एक ही मूल भाषा से निकली हैं। जो भाषाएँ एक ही मूल भाषा से निकली हैं, उन्हें एक ही परिवार की भाषाएँ कहा जाता है और भाषाओं को इस प्रकार वर्गबद्ध करना भाषाओं का **पारिवारिक वर्गीकरण** कहा जाता है।

भाषाओं के जन्म और मृत्यु से क्या तात्पर्य है, इस बात पर भी यहाँ विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। भाषाओं का जन्म जीव-जन्तुओं के जन्म की तरह नहीं होता, जिसमें माता-पिता का अस्तित्व अपनी सन्तति से पृथक् होता है और तीनों ही साथ-साथ रहते हैं। भाषा परिवर्तित होते-होते कालान्तर में जब स्वतः कई भाषाओं के रूप में सामने आती है, तब हम कहते हैं कि इन भाषाओं ने जन्म लिया है। इन भाषाओं के जन्म लेते ही जननी भाषा मर जाती है (क्योंकि वह स्वयं ही बदलकर कई भाषाएँ बनकर आई है)। इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक सही होगा कि किसी समय जिसे हम 'क' भाषा कहते थे, कालान्तर में वह 'ख' और 'ग' भाषाओं का रूप ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार जन्मी भाषाएँ अपनी जननी भाषाओं से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रखतीं। भाषाओं के मरने के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) जब एक भाषा बदलते-बदलते कालान्तर में अनेक भाषाओं का रूप ग्रहण कर लेती है तब हम कहने लगते हैं कि अमुक भाषा मर गई है। वस्तुतः यह कथन सत्य नहीं है। इसमें भाषा मरती नहीं है बल्कि नया रूप ग्रहण कर लेती है।

यह स्थिति भाषा के मरण की नही, उसके परिवर्त्तन की है। मूल जर्मनिक भाषा इसका उदाहरण है।

(२) कभी-कभी ठीक उपर्युक्त स्थिति होती है; लेकिन प्राचीन भाषा को हम लिपि की सहायता से सुरक्षित रखते है और लोक-जीवन से उक्त भाषा का प्रयोग समाप्त हो जाने के बाद ग्रथों की सहायता से पुनः उसे सीखते है ; उसमें लिखने और बोलने का अभ्यास भी करते है। किन्तु यह भाषा के 'जीवित होने' का प्रमाण नही है। सस्कृत की स्थिति यही है। उत्तर भारत की बँगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाएँ जिस मूल भाषा से निःसृत हुई है, संस्कृत उसी का एक परिष्कृत रूप है। इस प्रकार सस्कृत उपर्युक्त अर्थ मे एक मृत भाषा है। यदि ग्रन्थों की सहायता से हम संस्कृत सीख लेते हैं तो इससे वह संस्कृत जीवित नही हो जाती। आज कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है जो जन्म से संस्कृत बोलना आरम्भ करता हो और बचपन में सगे-सम्बन्धियों तथा मित्रों से अन्य किसी भाषा के बजाय सस्कृत में बातचीत करता हो। उपर्युक्त अर्थ में सस्कृत के 'मृत' होने का यह प्रमाण है। यदि कोई मुहल्ला ऐसा बसाया जाय जहाँ लोग बच्चों के सामने आरम्भ से ही संस्कृत का प्रयोग करें और किसी अन्य भाषा का प्रयोग न करें तो ऐसा सम्भव है कि कुछ लोग बचपन से संस्कृत का ही व्यवहार करने लगें। किन्तु यह प्रयत्न किसी कृत्रिम-सी भाषा को लादने का अस्वाभाविक प्रयत्न होगा। कोई भाषा जीवित है, इसे जानने का एक अत्यन्त सरल ढंग यह है कि कुछ लोग हमें ऐसे मिले जो उस भाषा के अतिरिक्त और कोई भाषा न बोल सकते हो।

(३) यदि किसी भाषा के बोलने वाले पराभूत होकर कोई दूसरी भाषा अपना लें और अपनी भाषा का प्रयोग पूर्णतया त्याग दें तो उनके बच्चे इसी नई भाषा का व्यवहार करेंगे और उपर्युक्त पुरानी भाषा मर जायगी।

(४) यदि किसी भाषा के बोलने वालों की संख्या कम होती चली जाय और बचे-खुचे लोग मर जायें तो उनके साथ उनकी भाषा भी मर जायगी। युगोस्लाविया में बोली जाने वाली डालमेशियन भाषा इसका उदाहरण है, जिसे बोलने वाला अन्तिम व्यक्ति १८९८ ई० में एक खान-दुर्घटना में मारा गया।

भाषा के इस प्रवाह-रूप को ध्यान में रखते हुए अपेक्षाकृत प्राचीन भाषा को पवित्र तथा अधिक सम्माननीय मानना भाषिक की दृष्टि में अवैज्ञानिक है। नई और पुरानी भाषा में इस प्रकार का कोई भेद नही करना चाहिए।

१०. भाषाओं में एक प्रश्न पर सर्वत्र विचार किया जाता है और वह यह कि अमुक रूप शुद्ध है या अशुद्ध। भाषिक इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर देने का प्रयत्न नहीं करता। उसका कार्य है पर्यवेक्षण और विश्लेषण। यदि कोई पूछे कि हिन्दी में 'सामर्थ्य' पुंल्लिग है या स्त्रीलिंग तो भाषिक का उत्तर होगा कि यह कुछ

लोगों के लिए पुंल्लिग है, कुछ के लिए स्त्रीलिंग । 'गठन' की स्थिति भी यही है। 'दही' दिल्ली और मेरठ की ओर स्त्रीलिंग है, अन्यत्र पुंल्लिग । भाषिक के लिए केवल 'उपर्युक्त' शब्द ही शुद्ध नहीं है । यदि वह बहुत बड़ी संख्या में लोगों को 'उपरोक्त' बोलते-लिखते पाता है तो उसके लिए यह रूप भी शुद्ध है। संस्कृत में भले ही 'उपर' शब्द न रहा हो ; वर्णनात्मक भाषिकी का अनुयायी/उपर्/को {ऊपर} मर्षिम का संमर्ष घोषित कर देगा जो वितरण की दृष्टि से /-उक्त/ के पहले पाया जाता है । यह कहना कि हिन्दी के विद्यार्थियों का उच्चारण अशुद्ध होता है क्योंकि वे 'ष्' का उच्चारण 'श्' की तरह करते हैं, अवैज्ञानिक कथन होगा । कहना यह चाहिए कि हिन्दी में 'ष्' ध्वनि नहीं मिलती । हिन्दी वर्त्तनी में इस लिपिचिह्न का प्रयोग जहाँ-कहीं होता है, 'श्' ध्वनि के लिए होता है । इसी प्रकार 'ऋ' ध्वनि हिन्दी में संस्कृत की भाँति स्वर नहीं है ; इस लिपिचिह्न का प्रयोग 'रि' ध्वन्यनुक्रम के लिए मिलता है ।

इस प्रकार भाषिकी के अनुसार भाषा के प्रति हमारे वैज्ञानिक दृष्टिकोण का तकाजा है कि हम यह न कहें कि भाषा में क्या होना चाहिए ; हम केवल इतना कहें कि भाषा में क्या है । इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज के अन्य सदस्यों का यह अधिकार भाषिकों को प्राप्त नहीं है कि वे अपनी भाषा की असंगतियों पर विचार कर सकें अथवा अन्य लोगों के साथ प्रसंगानुसार उन्हें दूर करने का प्रयास कर सकें। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य केवल यह है कि भाषिक भाषा की असंगतियों को असंगतियाँ कहकर उन्हें अपने विवरण से बहिष्कृत करने के लिए स्वतंत्र नहीं है । साथ ही, उसका मानदण्ड यह नहीं है कि व्याकरणिक दृष्टि से नियमित प्रतीत होने वाला रूप ही अधिक ग्राह्य है । लोक-प्रयोग भाषिक के लिए एक अधिक ठोस आधार है ।

भाषिकी

छठा अध्याय

भाषिकी क्या है

१. भाषाविज्ञान§ को अर्थात् भाषा के विज्ञान को **भाषिकी** कहते है। भाषिकी मे 'भाषा' से हमारा क्या तात्पर्य है, इस बात का उल्लेख पीछे के पृष्ठो मे किया जा चुका है। भाषिकी मे इसी 'भाषा' का वैज्ञानिक विवेचन किया जाता है। इस वैज्ञानिक विवेचन को हम 'विज्ञान' कह सकते है या नही, यह बात कुछ अशो मे विवादास्पद है। विज्ञान मे विकल्प नही होते, विज्ञान का सत्य सार्वकालिक और सार्वत्रिक होता है। भाषिकी मे इन गुणो का अभाव बताया जाता है और उदाहरण-स्वरूप व्युत्पत्ति के नियम विज्ञापित किये जाते हैं। वास्तव मे यह दृष्टि-कोण बहुत सही नही है। निम्नलिखित व्युत्पत्तियो का उल्लेख किया जा सकता है—

(१)		(२)		(३)
कर्म	>	कम्म	>	काम
		करम		
धर्म	>	धम्म	>	धाम
		धरम		
चर्म	>	चम्म	>	चाम
		*चरम		
मर्म	>	*मम्म	>	*माम
		मरम		

प्रथम स्तभ के रूप सस्कृत के अपरिवर्तित अर्थात् तत्सम रूप है। दूसरे स्तभ के रूपो मे से प्रथम रूप तत्सम रूपो से व्युत्पन्न प्राकृतकालीन रूप है। इनमे से *मम्म प्राकृत साहित्य मे प्राप्त नही होता, लेकिन उक्त नियम इससे खडित नही हो जाता। सभव है *मम्म का प्रयोग होता रहा हो और सयोगवश उसका प्रयोग प्राकृत-साहित्य मे नही मिलता। यदि इसका प्रयोग होता ही न रहा हो तो भी

---

§'भाषाविज्ञान' वर्णनात्मक शब्द (लिग्विस्टिक साइस) है, जबकि 'भाषिकी' (लिंग्विस्टिक्स) पारिभाषिक शब्द है। पारिभाषिक शब्द के रूप मे 'भाषाविज्ञान' का प्रयोग उचित नही है, क्योकि इससे इस प्रकार का प्रश्न हास्यास्पद हो जाता है कि भाषाविज्ञान विज्ञान है या कला ?

नियम का खंडन नहीं होता क्योंकि प्रत्येक संभाव्य स्वनिमानुक्रम किसी भाषा में शब्द के रूप में व्यवहृत हो ही, यह आवश्यक नहीं है। उक्त नियम की नियमितता केवल इतनी है कि यदि मर्म का प्राकृत रूप मिलता तो *मम्म मिलता, *मिम्मा नहीं (और यदि इस प्रकार का अनियमित रूप मिलता भी तो यह 'अनियमित' केवल इस अर्थ में होता कि उसके परिवर्त्तन के आधारभूत नियम को हम ठीक से समझ नहीं पाये हैं। ऐसी स्थिति में हमें उस अज्ञात नियम की खोज करनी होती।) तीसरे स्तंभ के रूप तद्भव रूप हैं। इनमें से 'धाम' का अत्यन्त सीमित प्रयोग 'काम-धाम' अनुक्रम में§ मिलता है; किन्तु प्रत्येक शब्द के प्रयोग की मात्रा भाषिकी के निर्धारण का विषय नहीं है। *माम रूप हमे उपलब्ध नही होता; इसके दो कारण हो सकते हैं। या तो *मम्म शब्द था ही नहीं जिससे *माम की व्युत्पत्ति होती अथवा यदि वह था भी तो बाद में उसके प्रयोग की समाप्ति हो गई। इस रूप की नियमितता इसमें है कि यदि प्राकृत काल में *मम्म रूप रहा होता और इस मर्षिम की यथावत् सुरक्षा भाषा ने आवश्यक समझी होती तो तद्भव रूप हमें *माम ही मिलता, *मन्मा आदि नहीं। यदि ऐसा 'अनियमित' रूप मिलता तो उसकी तथाकथित अनियमितता को दूर करने के लिए हमें इसके लिए उत्तरदायी 'नियम' की खोज करनी पड़ती।

दूसरे स्तंभ के दूसरे शब्द अर्धतत्सम हैं अर्थात् प्राकृतकाल में हुए पहले परिवर्तन (धर्म >धम्म; कर्म > कम्म) के बाद तत्सम रूप आदान किये गये और उनमें दूसरे नियम से परिवर्त्तन हुआ। इनमें *चरम रूप हमें उपलब्ध नहीं होता और यहाँ भी नियमितता इस बात में है कि यदि 'चर्म' का भी अर्धतत्सम रूप मिलता होता तो वह *चरम ही होता (यदि भिन्न होता तो किसी नियम के अनुसार)। हम यह तो नहीं कह सकते कि आदान किये जाने वाले शब्द कितने होंगे, कौन-कौन होंगे और किस स्रोत से आएँगे। पानी की वैज्ञानिक जाँच करने वाला व्यक्ति यह तो नहीं कह सकता कि इसमें कितने और कौन-कौन से पतिंगे कहाँ-कहाँ से आकर गिरेंगे।

इस प्रकार व्युत्पत्ति में उच्छृंखलता और अनियमितता नहीं होती। यदि हमें कोई अपवाद दिखाई पड़ते हैं तो इसका कारण यह है कि हमने उनके नियम खोजने में अभी तक सफलता नहीं पाई है। इस प्रकार व्युत्पत्ति एक पूर्णतः वैज्ञानिक विषय है और व्युत्पत्ति के सहारे अपवादों में मिथ्या उदाहरण प्रस्तुत करके अन्य विज्ञानों से इस मामले में भाषिकी का पार्थक्य सिद्ध करने का प्रयास करना भ्रामक है।

---

§ 'ईको वर्ड' की भी ऐतिहासिक व्युत्पत्ति होती है, विशेषतः तब जब वह 'अनियमित' हो।

२. भाषिकी के बारे में एक बात और कही जाती है कि भाषिकी के तथ्य अन्य विज्ञानों की भाँति सार्वत्रिक और सार्वकालिक नहीं होते । यह बात भी कुछ भ्रान्तियों पर आधारित है । लोग कहते हैं कि धूप से पानी भारतवर्ष में सूखता है तो अमेरिका मे भी सूखता है । यदि वह भाप बनकर आज उड़ जाता है तो पाँच सौ वर्ष पहले भी उड़ जाता था और पाँच सौ वर्ष बाद भी उड़ेगा । भाषिकी में किसी भाषा के ध्वनि-नियम केवल उसी भाषा पर लागू होते हैं, अन्य भाषाओं पर नही । जो ध्वनि-नियम किसी भाषा पर पाँच सौ वर्ष पहले लागू होते थे, वे आज लागू नही होते और जो आज लागू हो रहे हैं वे पाँच सौ वर्ष बाद नही लागू होंगे ।

इस प्रकार के तर्क देने वाले लोगों से पूछना चाहिए कि धूप से पानी भाप बन जाता है लेकिन मिट्टी भाप नहीं बनती ; ऐसा क्यों ? क्या इसका अर्थ यह लगाया जाय कि भौतिकी अर्थात् भौतिक विज्ञान के नियम सार्वत्रिक नही है ? यदि पानी और मिट्टी की तुलना उपयुक्त नहीं है तो किन्हीं दो भाषाओं की तुलना भी समीचीन नहीं है । यदि कोई कहे कि दो या तीन जितनी भी भाषाएँ हों, आखिर भाषाएँ ही हैं तो उससे कहा जा सकता है कि पानी और मिट्टी कितने ही प्रकार की और कैसी भी क्यों न हों आखिर 'तत्व' ही है । यदि कोई यह कहे कि पानी और मिट्टी में जितना भेद है उतना भेद दो भाषाओं में परस्पर नही होता तो इस प्रश्न पर हमे विचार करना चाहिए । भेद की अधिकता और कमी की नाप-जोख का पैमाना क्या है ? प्रत्येक भाषा की संघटक उपव्यवस्थाएँ अन्य भाषाओं की तुलना में भिन्न होती है । इन उपव्यवस्थाओं की विविधता की नाप-जोख वस्तुनिष्ठ दृष्ठि से की जानी चाहिए । इस प्रकार की परीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भाषाओं में बड़ा विभेदपूर्ण अन्तर मिलता है । जिस प्रकार विभिन्न तत्त्वों से बने भौतिक पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, उसी प्रकार विभिन्न उपव्यवस्थाओं से संघटित भाषाएँ भी एक-दूसरे से भिन्न होती हैं । यदि भाषाओं में कोई सामान्यता है (जैसे कि सब में स्वनिम होते हैं और सब में मर्षिम होते हैं) तो उसी सामान्यता के अनुरूप भाषायी नियमों में भी सामान्यता अर्थात् सार्वत्रिकता मिलती है । उदाहरणार्थः— यह बात सभी भाषाओं के लिए निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि प्रत्येक भाषा की प्रत्येक उपव्यवस्था में अन्तर होता रहता है और प्रत्येक भाषा में ध्वनि-नियम काम करते होते है । इसके बाद भिन्नता का क्षेत्र आ जाता है ; फलतः जिस प्रकार मिट्टी की बात पानी पर लागू नहीं होती उसी प्रकार 'क' भाषा के ध्वनि-नियम 'ख' भाषा पर लागू नहीं होते ।

इसी प्रकार भाषिकी के तथ्यों की सार्वकालिकता में सन्देह करने वाले लोगों से पूछना चाहिए कि किसी आम या अमरूद का वैज्ञानिक विश्लेषण दस दिन पहले जो निष्कर्ष प्रदान कर चुका है, क्या आज उसी का किया जाने वाला वैज्ञानिक

विश्लेषण हमें वही निष्कर्ष प्रदान करेगा ? समय बीतने के साथ-साथ अमरूद में सड़ाँध उत्पन्न होने लगती है ; भाषा में इस प्रकार की सड़ाँध उत्पन्न नहीं होती— इतने अंशों में उपर्युक्त उपमा अनुपयुक्त है ; किन्तु शेषांश में वह पूर्णतः समीचीन है । जिस प्रकार फलों में रक्खे-रक्खे परिवर्तन आता जाता है, उसी प्रकार समय के साथ-साथ भाषा में भी परिवर्त्तन आता जाता है । आज की भाषा हमारी कल की भाषा से भिन्न है और कल की भाषा हमारी आज की भाषा से भिन्न होगी । आज जो भाषा हम बोल रहे हैं, पाँच सौ वर्ष पूर्व दुनियाँ में उसका अस्तित्व ही नहीं था और पाँच सौ वर्ष बाद इस भाषा का कहीं पता नहीं चलेगा । जो भाषा पाँच सौ वर्ष बाद बोली जाने वाली है, उसका आज कहीं पता-ठिकाना नहीं है । काल-भेद से प्रभावित होने के बाद हमारे सामने आने वाली भाषाएँ एक-दूसरे से पृथक् होती हैं, चाहे उनके लिए हम एक ही नाम का प्रयोग करते रहें । भूतकालीन हिन्दी, वर्तमान हिन्दी और भविष्य-कालीन हिन्दी एक ही वस्तु नहीं हैं । इनके या इसी प्रकार काल-भेद से विभक्त भाषाओं के भाषिक नियम उसी प्रकार भिन्न-भिन्न होंगे जिस प्रकार भिन्न-भिन्न भौतिक पदार्थों के स्वरूप-लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषिकी में जो अवैज्ञानिकता लोगों को दिखाई देती है, वह इस विज्ञान की अवैज्ञानिकता नहीं है बल्कि इस विज्ञान की विवेच्य वस्तु की अन्य विज्ञानों के विवेच्य पदार्थों से भिन्नता का प्रतिफल है । पाँच सौ वर्ष बाद आने वाली भाषा के नियमों का विवेचन हम आज नहीं कर सकते क्योंकि वह भाषा अभी दुनियाँ में आई ही नहीं है किसी अज्ञात और अविद्यमान पदार्थ का विश्लेषण कैसे किया जा सकता है ?

३. एक विचित्र बात यह भी है कि भाषिकी की वैज्ञानिकता और अवैज्ञानिकता का प्रश्न लोग केवल ध्वनि-नियमों के विवेचन द्वारा हल कर लेना चाहते हैं ; भाषिकी के अन्य अंगों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता । स्वानिकी के अध्ययन में हम ध्वनियों के भौतिक शरीर का विश्लेषण करते हैं । वागंगों की स्थिति क्या है, वायु-प्रवाह की गति और मात्रा क्या है—यदि इन बातों की सूचना हमें हो तो हम बता सकते हैं कि कौन-सी ध्वनि उच्चरित हो रही है, हुई है या होनेवाली है । भौतिकी आदि के विद्वान् ही दो तत्त्वों के मिश्रण का परिणाम बता सकते हों, ऐसा नहीं है । किसी उच्चरित ध्वनि का विश्लेषण करके हम उसके जन्म की सारी प्रक्रिया स्पष्ट कर सकते हैं । इस प्रकार की छान-बीन विज्ञान की वस्तु होती है । अन्य अनेक विज्ञानों की भाँति भाषिकी में भी स्वनिक प्रयोगशाला होती है, जिसमें अनेक यंत्र होते हैं । इन यंत्रों की सहायता से ध्वनियों का सूक्ष्मतम और शुद्धतम विश्लेषण किया जा सकता है । यंत्रों के आधार पर ज्ञात होने के कारण हमारे निष्कर्ष पूर्णतः वस्तुनिष्ठ होते हैं, व्यक्तिनिष्ठता की अवैज्ञानिकता उनमें नहीं आ पाती ।

स्वानिमी मे भी हम कुछ निश्चित मानदडो के द्वारा परिणामो पर पहुँचने का प्रयत्न करते है। यद्यपि स्वानिमी मे हम किन्ही सर्वमान्य सिद्धान्तो तक नही पहुँच सके हे और इस कारण विभिन्न विद्वानो के विश्लेषणो मे भिन्नताएँ भी मिलती है, किन्तु इससे हमे अन्तिम लक्ष्य की एकता या समानता प्राप्त करने मे कठिनाई नही होती। व्याकरण भी एक ही पद्धति से नही प्रस्तुन किया जाता, किन्तु उमकी प्रकृति को भी पहचान लिया गया है और विभिन्न पद्धतियो से प्रस्तुत किये जाने के बावजूद हम सत्य का उद्घाटन करने मे समर्थ होते है। मर्षस्वानिमी भी इस स्थिति मे है। सीमान्तिकी अवश्य एक ऐसी शाखा है जिसकी "वैज्ञानिकता" मे बहुतो को सन्देह है और बहुत से विद्वान् उसे भाषिकी के अन्तर्गत स्थान ही नही देते। सीमान्तिकी के भी वैज्ञानिक अध्ययन के प्रयत्न हो रहे है। अनेक भाषाओ की तुलना करके उनका पारिवारिक सम्बन्ध निश्चित किया जा रहा है और वैज्ञानिक पद्धति से उनकी मूल भाषा की पुनर्रचना का भी प्रयत्न किग्रा जा रहा है। किसी भाषा की प्राचीनता की नाप-जोख के लिए भी वैज्ञानिक ढग अपनाये जा रहे है। भाषिकी के क्षेत्र मे किये जाने वाले नवीनतम अनुसधानो पर वैज्ञानिकता की पूरी और गहरी छाप है। भाषिकी की वैज्ञानिकता मे सन्देह करना अज्ञान का परिचायक है।

४ भाषा की प्रकृति, उसके गठन तथा व्यवहार आदि की वस्तुनिष्ठ परीक्षा करने वाले विज्ञान का नाम **भाषिकी** है।

सातवाँ अध्याय

भाषिकी का उपयोग

१. भाषिकी भारतवर्ष के लिए अपरिचित विषय नही है । भाषा के चिन्तन का प्रारम्भ हमारे देश में वैदिक काल मे ही हो गया था; किन्तु बीच के लम्बे अन्तराल में यह विषय विस्मृत-सा पड़ा रहा । पिछले दो-तीन सौ वर्षों में पाश्चात्य देशो ने भाषिकी पर जो-कुछ कार्य किया है, वह इस विषय को गौरव प्रदान करता है। पाश्चात्य देशों के इस भाषिक कार्य को सस्कृत भाषा के ज्ञान ने प्रगति दी और भाषिकी की अनेक शाखाओं मे सस्कृत के वैयाकरणों का कार्य आज भी आदर्श माना जायगा। इधर के वर्षों में भारतवर्ष में भाषिकी की गतिविधियाँ बढ़ी है और यह पाश्चात्य देशों के प्रभाव तथा योग से हुआ है। अनेक विश्वविद्यालयों ने बी० ए० तथा एम० ए० मे एक पूर्ण विषय के रूप मे भाषिकी के अध्यापन की व्यवस्था की है। ऐसी परिस्थिति में भाषिकी के उपयोग का प्रश्न भी प्राय उठाया जाने लगा है। यहाँ हम इसी पर विचार करेगे ।

२. किसी भी विज्ञान का सबसे बड़ा और सबसे पहला उपयोग यह होता है कि वह किसी महत्वपूर्ण क्षेत्र में हमारे **अज्ञान को दूर करे** और वस्तु-स्थिति से भलीभाँति परिचित कराए । इस सम्बन्ध में दो रायें नहीं प्रकट की जा सकती कि भाषा मनुष्य-समाज का अत्यधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण अंग है । हमारे समाज के अस्तित्व के लिए जो वस्तु सर्वप्रथम उत्तरदायी है, वह भाषा ही है। भाषा का प्रयोग उठते-बैठते, चलते-फिरते होता ही रहता है। जिस वस्तु से हमारा इतना निकट का और इतना घनिष्ठ संबंध है, उसके बारे में सर्वांगीण तथा यथार्थ सूचनाएँ प्राप्त करना हमारी प्रमुख आवश्यकता है और भाषिकी यही कार्य करती है। सामान्य व्यक्ति ध्वनियों का उपयोग निरन्तर करता रहता है लेकिन उसे उन ध्वनियों के स्वरूप और उनकी प्रकृति के बारे मे स्पष्ट जानकारी नहीं होती । भाषिकी को यह जानकारी होती है क्योंकि स्वानिकी उसे इसी बात की जानकारी कराती है कि ध्वनि तत्वत: क्या है; विभिन्न ध्वनियों में क्या और कितनी मात्रा में साम्य तथा वैषम्य होता है । वैज्ञानिक यदि किसी पेड़ से आम गिरते देखता है तो वह सोचने लगता है कि यह आम नीचे क्यों गिरा, ऊपर क्यों नहीं चला गया । सामान्य व्यक्ति को इस पर हँसी आ जाती है । वह कहता है—"आम ऊपर कैसे जा सकता है, वह

ता नीचे गिरेगा ही ! यह भी कोई पूछने की बात है !" लेकिन वैज्ञानिक को इससे सन्तोष नहीं होता और अपनी इसी जिज्ञासु वृत्ति के कारण वह धरती की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का पता लगा लेता है, उसकी प्रकृति समझ लेता है, उसके प्रभाव के क्षेत्र की और उसकी मात्रा की नाप-जोख कर लेता है। वक्ता की कही हुई बात श्रोता तक कैसे पहुँच जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर में भी सामान्य जन हँस पडेगा और कहेगा—"अरे भाई ! वक्ता बोलता है तो श्रोता को सुनाई पड़ेगा ही। इसमें भी कोई पूछने की बात है !" लेकिन वैज्ञानिक को इससे सतोष नही होता; वह इसकी छान-बीन करता है और सांचारिकी में हमें अपने निष्कर्षो से परिचित कराता है। ध्वनियों की कार्यकारिता का स्वरूप क्या है, भाषा की कार्यकारिता में प्रत्येक ध्वनि का स्तर क्या है, भिन्न उच्चारों की भिन्नता के लिए ध्वनियाँ किस प्रकार उत्तरदायी होती है—इसका विवेचन भाषिक स्वानिमी के अन्तर्गत करता है। प्रत्येक उच्चार का कुछ अर्थ होता है। इस अर्थ के लिए कौन तत्त्व उत्तरदायी है ? 'करिए' और 'किया' दोनों में ही हमे 'करना' क्रिया की उपस्थिति का आभास होता है यद्यपि उनमें से एक का पूर्वांश 'क्र' है और दूसरे का 'कि'। इन दोनों मे भिन्नता के बावजूद जिस एकता के दर्शन हम करते है, वह क्या है, क्यो है और किस प्रकार है ? इन प्रश्नों का उत्तर हमें मर्षविज्ञान देता है। वाक्य में शब्दों की स्थिति क्या होती है ? क्या शब्दो के स्थान में परिवर्त्तन करना संभव है ? यदि हाँ तो किस सीमा तक ? इस स्थान-परिवर्तन का प्रभाव क्या होता है ? किसी वाक्य का अर्थ यदि हमें द्विविधाजनक लगता है तो ऐसा क्यो है और किस प्रकार है ? इन प्रश्नो का उत्तर हमें वाक्य-विज्ञान देता है। यदि भाषा अर्थ का द्योतन न करे तो उसके अस्तित्व की आवश्यकता ही नही रहेगी। इस अर्थ की प्रकृति क्या है और उसका स्वरूप क्या है—इन प्रश्नों का उत्तर हमें सीमान्तिकी से मिलता है। भाषा के संघटक तत्वों की ही नहीं, भाषा के जीवन और उसके व्यवहार की भी परीक्षा भाषिकी में की जाती है। इस प्रकार भाषिक पूर्णरूपेण भाषा का विशेषज्ञ होता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह अनेकानेक भाषाएँ बोल और लिख लेता है। जिस प्रकार यक्ष्मा का विशेषज्ञ यक्ष्मा के सारे लक्षण जानता है, लेकिन यह आवश्यक नही है कि वह यक्ष्मा से ग्रस्त रह चुका हो ; उसी प्रकार भाषा का विशेषज्ञ भाषिक भाषा के सारे लक्षण जानता है लेकिन यह आवश्यक नही है कि उसे अनेकानेक भाषाएँ स्वयं आती ही हो।

३. भाषिकी का सांगोपाग अध्ययन करके भाषा का विशेषज्ञ बनने के बजाय यदि हम दैनिक व्यवहार की उपयोगिता की दृष्टि से भाषिकी का सामान्य अध्ययन करना चाहते हैं तो इससे हमे भाषा के प्रति **वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित** करने में सहायता मिल ही सकती है। भाषा के सम्बन्ध मे अनेक भ्रान्तिपूर्ण विचारों

का निराकरण इससे हो सकता है। हमारे देश के एक नेता ने कुछ समय पहले कहा था—"यह महान् दु.ख की बात है कि सस्कृत एक पूर्णतः मृत भाषा हो चुकी है।" वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्राप्त कर चुकने पर इस बात से किसी को दुःख होने का या किसी को सुख होने का प्रश्न नही उठेगा क्योंकि हमें यह ज्ञान हो जायगा कि संस्कृत जिस अर्थ मे 'मृत' है, उस अर्थ में ससार की सारी पुरानी भाषाएँ 'मृत' हो चुकी है, आज की सारी भाषाएँ 'मृत' हो जायँगी और आगे भी दुनियाँ में ऐसी कोई भापा नहीं होगी जो 'मृत' न हो जाय। इसका सीधा-सा कारण यह है कि संसार की सारी भाषाएँ परिवर्त्तनशील है और परिवर्त्तित होते-होते कोई भाषा जब अत्यधिक भिन्न रूप ग्रहण कर लेती है तो उसे हम एक नई भाषा (या भाषाओं) का नाम दे देते है और उसके पुराने रूप को 'मृत' घोषित कर देते है। इस प्रसंग में 'मृत' शब्द का अर्थ 'परिवर्त्तित' होता है। इसलिए उक्त प्रसंग में 'मृत' शब्द के प्रयोग से किसी भाषिक को कोई क्लेश नही होगा क्योकि वह 'मृत' शब्द का अर्थ इस प्रसंग में समझता है। किन्तु भाषिकी के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से रहित सामान्य संस्कृतानुरागी को इस 'मृत' शब्द पर आपत्ति हो सकती है क्योंकि वह इसके साथ कुछ बुरा और अवमाननापूर्ण भाव संलग्न पाता है। सस्कृत के एक अध्यापक ने इसी प्रकार की प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते हुए सस्कृत को 'जीवित' बताने का प्रयत्न किया है। स्पष्ट ही, उनके लिए 'जीवित' अच्छा और सुखद भाव है तथा 'मृत' बुरा और दुःखद। मनुष्य के साथ इन शब्दों का प्रयोग एक अर्थ देता है और भाषा के साथ दूसरा—इस बात का पता उन्हें नही है। भाषा के साथ 'मृत' शब्द का प्रयोग देखकर दुःखी होना उसी प्रकार की बात है जैसे कोई किसी लट्टू को देखे और दुःखी हो जाय कि यह तो कभी लाल हो जाता है, कभी पीला हो जाता है, कभी नीला हो जाता है, कभी हरा हो जाता है और कभी इसमें इन्द्रधनुषी रंगों की समन्वित छटा दिखने लगती है। रंगों का यह खेल किसी-किसी को मनोरम भी लगता है। भाषाओं का परिवर्त्तन (उपर्युक्त प्रकार की 'मृत्यु') भाषिक को भी बड़ा मनोरम लगता है। वह देखता है कि ध्वनियो में, शब्दों में और अर्थों में कैसे-कैसे परिवर्त्तन हो रहे हैं। वह इन परिवर्त्तनो के नियम खोजता है और उन नियमों का विश्लेषण करके आनन्दित होता है। भाषिकी का सामान्य अध्ययन करने वालो को यह आनन्द नहीं मिलेगा; लेकिन उनकी समझ में यह भी आ जायगा कि दुःखी होना अज्ञानपूर्ण है। इस प्रकार का वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित हो जाने से भाषा के प्रयोक्ता के रूप में भाषा पर जिस प्रकार का और जितना अधिकार होना चाहिए, हो सकेगा।

४. इस प्रकार का वैज्ञानिक दृष्टिकोण किसी देश की **भाषायी समस्याओं का हल** भी है। अपनी-अपनी मातृभाषा के प्रति हमारे मन में जो भावान्ध अनुराग होता है और जिसके कारण हम अपने प्रदेश, देश और विश्व की अन्य भाषाओं से

वैसे लगाव का अनुभव नही कर पाते, भाषिकी का अध्ययन उसे सन्तुलित करके हमे यथार्थ धरातल पर लाता है और विविध समस्याओ को उनके सच्चे परिप्रेक्ष्य मे हमारे सामने प्रस्तुत करता है। हमारे कहने का तात्पर्य यहाँ यह नही है कि भाषिकी का अध्ययन करते ही मनुष्य सारी संकीर्णताओ और सारे असन्तुलनो से मुक्त हो जाता है और उसमे सहसा तटस्थता, उदार मानवता तथा बौद्धिक ईमानदारी का उदय हो जाता है। भारतवर्ष की भाषायी समस्या पर कुछ भाषिको के जो वक्तव्य मुझे दिखाई दिये है, इनके पीछे उपर्युक्त सारे गुणो का अस्तित्व मुझे सदिग्ध लगा है। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि इन गुणो के अर्जन मे भाषिकी का अध्ययन सहायक होता है ; भाषिकी के अध्ययन के बिना भाषा के सबध मे उपर्युक्त गुणो का अर्जन कठिन है और इन गुणो के बिना भाषायी समस्याओ का सकुचित भावात्मक के बजाय बौद्धिक रूप से किया गया हल प्रस्तुत करना कठिन है।

५ जो लोग **नई भाषाएँ सीखते** है, उनको भाषिकी के अध्ययन से बडी सहायता मिलती है। सामान्य शिक्षार्थी को किसी अपरिचित भाषा मे मिलने वाले तत्त्व पूर्णत अपरिचित होते है और वह उन्हे एक-एक कर ग्रहण करता है। भाषिकी की शिक्षा पाये हुए व्यक्ति को भाषा के सामान्य सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे जानकारी होती है, भाषा के स्वरूप और व्यवहार का पता उसे होता है, इसलिए किसी भी नई भाषा का अध्ययन करते समय उसे अपने किन्ही पूर्व-सिद्धान्तो का व्यावहारिक रूप दिखाई पडता है और इससे उसे अतिरिक्त रुचि आती जाती है। भाषा के विभिन्न तत्वो मे वह सायास या अनायास भाषिक नियम खोजता जाता है, जिससे भाषा सीखने का उसका कार्य अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। सस्कृत का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियो को सस्कृत में सर्वत्र रटने की आवश्यकता का अनुभव होता है। रटे हुए रूपो की समानता और विषमता का विश्लेषण करके भाषिकी उनके कारणों पर और उनके व्यवहार की प्रकृति पर प्रकाश डालती है। इससे रटने के शुष्क कार्य मे एक अनोखा रस आ जाता है और रटना रटना नही रह जाता। अँगरेजी भाषा सीखने के लिए भाषिकी का ज्ञान अनिवार्य-सा है। भारतवर्ष मे अँगरेजी भाषा का सर्वांगशुद्ध अध्यापन शायद ही कही होता हो। जो अँगरेजी हम सीखते है वह अँगरेजो की अँगरेजी नही होती, भारतीय अँगरेजी होती है। हमारी अँगरेजी में अँगरेजो की अँगरेजी से सर्वप्रमुख भिन्नता उच्चारण मे होती है। उच्चारण को शुद्ध करने के लिए स्वानिकी का अध्ययन करना पडता है ; अँगरेजी की ध्वनियो का उच्चारण करने का अभ्यास करना पडता है। अँगरेजी की विशिष्ट वाक्य-रचना की प्रकृति का ज्ञान भी हमे अँगरेजी भाषिकी से होता है। हिन्दी को मातृभाषा के रूप मे बोलने वाले विद्यार्थी जब हिन्दी का अध्ययन एक विषय के रूप मे करते हैं तब उनका सम्बन्ध साहित्य से ही होता है ; हिन्दी भाषा का अध्ययन उनके लिए

आवश्यक नहीं माना जाता। फल यह होता है कि बहुधा कुछ प्रयोगों के औचित्य-अनौचित्य का निश्चय करने के लिए उनके पास कोई साधन नहीं होता। भाषिकी ही इन प्रसगों मे सहायक हो सकती है। लिखने में महत्त्व~महत्व, तत्त्व~तत्व, मत्त्व~सत्व, मूर्द्धा~मूर्धा, वृहत्~बृहत्, जागृति~जाग्रति~जागर्त्ति, प्रतिविम्ब~प्रतिबिम्ब, उपर्युक्त~उपरोक्त, अनुगृहीत~अनुग्रहीत आदि विकल्प मिलते हैं। 'अँगरेज' शब्द तो चार प्रकार से लिखा जाता है :—अँगरेज़~अँग्रेज़~अंग्रेज~अंगरेज़। भाषिकी यों तो लिखित रूप से सबंध नहीं रखती और उच्चरित भाषा पर ही विचार करती है तथापि उपर्युक्त प्रकार के विकल्पों में वह अपना मत प्रकट कर सकती है। वैसे तो संस्कृत जानने वाले लोग उपर्युक्त उदाहरणों में से कुछ को शुद्ध और कुछ को अशुद्ध घोषित कर देंगे ; किन्तु भाषिकों का मत संस्कृतज्ञों से भिन्न भी हो सकता है। वह विशेष क्षमता भाषिक को ही प्राप्त है कि वह उपर्युक्त प्रकार के विकल्पों पर समग्र सप्रयोजन दृष्टियों से विचार कर सके। इस प्रकार की जानकारी देकर हिन्दी आदि परिचित भाषाओं पर प्रकाश डालकर भाषिकी हमें नई भाषाएँ तो नहीं सिखाती ; किन्तु **ज्ञात भाषा के सम्बन्ध में नई बातें** अवश्य सिखाती है। हिन्दी, अँगरेजी या किसी भी भाषा का अध्ययन करने वाले व्यक्ति के लिए भाषिकी से अपरिचित रहना एक अपूरणीय क्षति है।

६. भाषिकी के अध्ययन से भाषा के सम्बन्ध में हमारे अन्ध-विश्वास समाप्त होते हैं, भाषा को हम उसके वास्तविक स्वरूप में पहचानते हैं और उसे अभिव्यक्ति का एक साधन-मात्र मानते हैं। इस कारण भाषा में यथेच्छ और आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन करने का साहस भाषिकों में आ जाता है। सामान्य जन सामान्यतः ऐसा करने की नहीं सोच सकता, वह लीक पर चलता रहता है। वैयाकरण भी व्याकरणिक सम्मति देते समय परम्परा पर आश्रित होता है। भाषिक में ही यह सामर्थ्य होता है कि वह भाषा में किसी भी सीमा तक **निर्माण और परिवर्त्तन** कर ले। संसार की भाषाओं का अध्ययन करके भाषिकों ने भाषाओं की प्रकृति का विश्लेषण किया, उनमें पाई जाने वाली अनियमितताओं से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का अनुभव किया और यह निश्चय किया कि एक अत्यन्त सरल और पूर्णतः नियमित भाषा का निर्माण किया जाय, जिसे सीखने में किसी को कठिनाई न हो और जिसे विश्वभाषा के रूप में अपनाया जा सके, ताकि मानव-मात्र समीप आए। इस प्रकार विश्वभाषाओं का रूप ग्रहण करने के उद्देश्य से निर्मित वोलापुक, एस्पेरेन्तो, ईडियम न्यूट्रल तथा ईडो आदि भाषाओं में एस्पेरेन्तो सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस प्रकार समूची भाषाओं का निर्माण कृत्रिम निर्माण का अनोखा उदाहरण है। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने संस्कृत से अविकल रूप में आदत्त 'ऐतिहासिक', 'भौगोलिक' आदि शब्दों को देखकर यह सोचा कि हिन्दी संस्कृत से अनेक बातों में भिन्न है, इसलिए उपर्युक्त प्रकार के

शब्दों में परिवर्त्तन कर दिया जाय तो कोई हानि नहीं है§ । उन्होंने इनके लिए 'इतिहासिक', 'भूगोलिक' आदि रूप प्रस्तावित किये । इस प्रस्ताव के पीछे भावना यह थी कि संज्ञा-धातु में /-इक्/ प्रत्यय जोड़ दिया जाय और इससे धातु के रूप पर कोई प्रभाव न पड़े । निश्चय ही इस परिवर्त्तन से बड़ी सरलता हो जाती है ; किन्तु इस प्रकार का परिवर्त्तन कोई भाषिक ही कर सकता है, वैयाकरण अथवा सामान्य जन यह साहस नहीं कर सकता ।

मूलतः इस प्रकार का निर्माण और परिवर्त्तन सामाजिक सुविधा के दृष्टिकोण से स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक है ; क्योंकि इसमें नियमित-अनियमित किसी भी प्रकार के पुरातन से चिपके रहने की भावना की दासता से मुक्ति पा ली गई है। किन्तु व्यावहारिक रूप में यह देखा गया है कि ऐसे प्रयत्न सफल नहीं हो पाते। अपनी प्रसिद्धि और सरलता के बावजूद एस्पेरैन्तो एक निश्चित सीमा से आगे नहीं बढ़ सकी । डॉ० बाबूराम सक्सेना के परिवर्त्तन के सुझाव को किसी ने भी स्वीकार नहीं किया । और तो और, स्वयं डॉ० सक्सेना अपने सुझाव का कड़ाई के साथ पालन नहीं कर सके । 'सामान्य भाषाविज्ञान' की जिस भूमिका में उन्होंने 'इतिहासिक', 'भूगोलिक' आदि रूपों का प्रस्ताव किया, उसी में उन्होंने *मूलिक तथा *परिभाषिक के बजाय परम्परागत 'मौलिक' तथा 'पारिभाषिक' रूपों का प्रयोग किया है । पुस्तक के प्रथम तीन पृष्ठों पर ही *विज्ञानिक, *मुखिक और *निसर्गिक के बजाय 'वैज्ञानिक', 'मौखिक' और 'नैसर्गिक' का प्रयोग मिलता है ।

सैद्धान्तिक रूप से इस प्रकार के कार्य में यह त्रुटि पाई गई कि इसमें भाषिकी के कार्य-क्षेत्र से बाहर जाने का प्रयास हुआ है । भाषिकी का कार्य केवल अन्वीक्षण है, निर्माण या परिवर्त्तन नहीं । इससे तो भाषा की स्वाभाविक विकासगति में बाधा पहुँचती है और यह भाषिक के कर्त्तव्य का ठीक उलटा है ।

---

§डॉ० सक्सेना के कार्य पर यह आपत्ति की जा सकती है कि उन्होंने धातु-प्रत्यय को देखा है जबकि भाषा का प्रयोग करने वाले लोग शब्द को देखते हैं। 'ऐतिहासिक' शब्द का धातु-प्रत्यय में विश्लेषण करने के स्थान पर हम पूरा शब्द एक इकाई के रूप में सीख लेते हैं, यह बात सही है लेकिन शब्द सीख लेने के बाद तुरन्त ही (शायद साथ-साथ भी) हमें /ऐतिहास्-/ का सम्बन्ध /इतिहास्/ से जोड़ना पड़ता है। उक्त परिवर्त्तन स्वीकार कर लेने से इन दो संमर्षों में से एक अनावश्यक हो जायगा और इससे निश्चय ही सरलता आएगी। यह कहा जा सकता है कि अभी हम लोगों को इससे कठिनाई होगी ; क्योंकि हमें प्रयत्नपूर्वक अपने शब्दों का संशोधन करना होगा । फलतः 'इतिहासिक', 'भूगोलिक' का प्रयोग करते हुए हम भूल से कभी 'वैज्ञानिक' और 'मौखिक' ही कह जायँगे । यह बात भी सही है ; किन्तु इस प्रकार के परिवर्त्तनों का लाभ सदैव आगामी पीढ़ियों को मिला करता है ।

वास्तव में यह दृष्टिकोण अतिवादी है। यह ठीक है कि भाषिकी का कार्य अन्वीक्षण है; किन्तु भाषिक भाषिक होने के साथ-साथ समाज का एक सदस्य भी होता है। अपनी इस दूसरी हैसियत में उसका यह पुनीत कर्त्तव्य है कि समाज के हित के लिए वह भाषिकी के अपने ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग भी करे। कुछ क्षेत्र तो ऐसे आ जाते हैं कि निर्माण के बिना काम नहीं चल सकता। किसी विषय के पारिभाषिक शब्दों का निर्माण ऐसा ही कार्य है। इस पुस्तक में कुछ परिवर्त्तन भी किये गये हैं :—'कठ्य' के स्थान पर 'उत्कंठ्य' और 'स्वर-त्रिकोण' (वावेल-ट्रैंगिल) के स्थान पर 'स्वर-चतुष्कोण' आदि। अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग करके फिर उनकी अनुपयुक्तता पर प्रकाश डालने के बजाय इस प्रकार का परिवर्त्तन अधिक उचित लगा है।

७. अनेक भाषाओं वाले देश में भाषिकी का एक सामाजिक उपयोग यह भी होता है कि भाषायी आधार पर राजनैतिक सीमा-निर्धारण करते समय सीमाओं पर के **विवादास्पद क्षेत्रों की भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करके वहाँ की भाषा का निश्चय** करके भाषिक तमाम सामाजिक कटुता की सम्भावना समाप्त कर सकता है। इस प्रकार के प्रसंग हमारे देश में कुछ राज्यों के बीच उठ चुके हैं।

८. भाषिकी **इतिहास पर प्रकाश** डालने में सहायक होती है। भाषा की सहायता से हम अतीत के गर्भ में जितनी दूर तक जा सकते हैं, उतनी दूर तक जाना और किसी भाँति संभव नहीं है। भाषा के ऐतिहासिक महत्व की जानकारी प्राप्त करना भाषिकी के अध्ययन से ही संभव है। भाषिकी ही यह सिद्ध करती है कि कई भाषाएँ पारिवारिक रूप से सम्बद्ध हैं अर्थात् उनके बोलने वाले कभी अतीत में एक ही भाषा बोलने वाले समाज के वंशधर हैं। पारिवारिक रूप से सम्बद्ध भाषाओं का विकास एक ही मूल भाषा से किस प्रकार हुआ है, भाषिकी इसकी सारी प्रक्रिया पर प्रकाश डालती है। यदि लिखित रूप में वह मूल भाषा सुरक्षित है तब तो कोई बात नहीं अन्यथा आधुनिक भाषाओं की तुलना करके उस मूल भाषा की पुनर्रचना कर ली जाती है। भाषाओं का यह पारिवारिक वर्गीकरण भाषिकी की एक महत्वपूर्ण देन है और इसके सहारे इतिहास पर उल्लेखनीय प्रकाश पड़ता है। भाषिकी हमें प्रागैतिहासिक काल तक ले जाती है, जिसके सम्बन्ध में हमें और कहीं से सहायता नहीं मिलती। भाषा के अतिरिक्त और कोई साधन ऐसा नहीं है जो यह बता सके कि रूसी, अँगरेज, अँगरेजी बोलने वाले अमरीकी, जर्मन, फ्रांसीसी, स्वीड, स्पेनी, ईरानी, अफगान आदि भारतीय आर्यो के कुटुम्बी हैं। भाषाओं की प्राचीनता निर्धारित करने के लिए भाषिकी अनिवार्य है। इस प्रक्रिया से हम यह जान सकते हैं कि किन्हीं दो भाषाओं का सम्पर्क कब हुआ था। प्रागैतिहासिक काल को ऐतिहासिक बनाने में भाषिकी का यह योग-दान उल्लेखनीय है। किसी समाज की परम्परागत सांस्कृतिक,

सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक परिस्थितियों का प्रतिविम्ब भाषा में विद्यमान रहता है जिसकी परीक्षा भाषिकी की सहायता से की जा सकती है।

९. धरती की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का पता लगा लेने से हमें ज्ञान के क्षेत्र में एक उपलब्धि होती है ; भौतिकी का लक्ष्य इतना ही हो तो पर्याप्त है। किन्तु जिज्ञासा की शान्ति के अनन्तर विज्ञानों की उपलब्धियों का उपयोग व्यावहारिक क्षेत्र में भी किया जाता है। यदि कोई कृत्रिम उपग्रह अन्तरिक्ष में भेजना है या किसी व्यक्ति को बहुत ऊँचे पर्वत पर जाना है तो धरती की क्रमशः कम पड़ती हुई गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का ध्यान रखना पड़ेगा। इसी प्रकार भाषिकी शुद्ध ज्ञान प्रदान करने के साथ-साथ कुछ **व्यावहारिक कार्य** भी सिद्ध करती है। इस उपयोगात्मक भाषिकी को हम व्यावहारिक भाषिकी कह सकते हैं। व्यावहारिक भाषिकी का कुछ परिचय नीचे दिया जा रहा है।

९·१ जिन भाषाओं की अपनी लिपि नहीं होती, उनमें **लिपि का निर्माण** भाषिकी करती है। लिपि के निर्माण के पहले हमें इस बात पर विचार करना पड़ता है कि किसी भाषा में अर्थभेदक ध्वनियाँ और ध्वनिगुण कौन-कौन से हैं। प्रत्येक अर्थभेदक ध्वनि तथा ध्वनिगुण के लिए एक लिपिचिह्न का निर्माण किया जाना चाहिए। दूसरी ओर, ऐसे ध्वनिगुणों तथा ध्वनियों के लिए लिपिचिह्नों का निर्माण नहीं होना चाहिए जो अर्थभेदक नहीं हैं। स्वानिमी इन्हीं बातों का निश्चय करती है ; इसलिए स्वानिमी को आधार बनाकर किया जाने वाला लिपि-निर्माण वैज्ञानिक तथा पूर्ण होता है। जिन भाषाओं के पास अपनी लिपियाँ हैं, उनका विश्लेषण करके उनकी लिपियों की वैज्ञानिक परीक्षा भाषिकी के सहारे की जा सकती है और उनके **दोषों को दूर** किया जा सकता है।

९·२ पुराने साहित्यकारों की कृतियों की प्रामाणिकता पर कभी-कभी विवाद उठ खड़ा होता है। भाषिकी उस समय की भाषा की परीक्षा करके, उस साहित्यकार की भाषा-प्रकृति का विश्लेषण करके ऐसी कृतियों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में ठोस राय दे सकती है। लिपिकों के कारण जिन पाण्डुलिपियों या पुस्तकों के पाठों में विभेद मिलते हैं और जिनकी भाषा की शुद्धता-अशुद्धता का प्रश्न सामने आता है, उनका **पाठ-शोध** भी भाषिकी की सहायता से वैज्ञानिकता के साथ किया जा सकता है।

९·३ भाषा-शिक्षण की जो पद्धति सामान्यतः मिलती है, वह प्रायः एकरूप होती है। भाषा-शिक्षक न तो उस भाषा की स्वाभाविक प्रकृति पर विशेष ध्यान देता है जिसे वह पढ़ा रहा है, न उस भाषा की प्रकृति पर जिसे उसके शिक्षार्थी मातृभाषा के रूप में बोलते हैं। परिणाम यह होता है कि यह सारा शिक्षण-क्रम बड़े अवैज्ञानिक तथा कृत्रिम ढंग पर चलता है और शिक्षार्थी को अपना अध्ययन नीरस लगने

लगता है। सबसे बड़ी हानि यह होती है कि शिक्षार्थी का बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है। भाषिकी **भाषा-शिक्षण** की वैज्ञानिक पद्धति विकसित करती है। प्रत्येक भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए उसके लिए विशेष रूप से पाठ्य-सामग्री तैयार की जाती है और उस भाषा को भी ध्यान में रक्खा जाता है जिसे शिक्षार्थी मातृ-भाषा के रूप मे बोलते है। ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि शिक्षार्थी नई भाषा को शीघ्रातिशीघ्र सीखे और स्वाभाविक रूप में सीखें। यदि हमें हिन्दी भाषा पढ़ानी है तो हिन्दी की पाठ्य-सामग्री किसी भाषिक से तैयार करानी चाहिए जो हिन्दी की नब्ज जानता हो। इस प्रकार की पाठ्य-सामग्री भी सभी भाषाओं के लिए समान रूप से उपयोगी नहीं होगी। यदि रूसियों को और अँगरेजो को हिन्दी पढ़ाई जाती है तो दोनों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार से पाठ्य-सामग्री तैयार की जायगी। एक भाषा को ध्यान में रखते हुए दूसरी भाषा के व्याकरण तैयार किये जाते है, जिन्हे **एकान्तरण व्याकरण** कहा जाता है। वस्तुतः भारतवर्ष में हिन्दी, अँगरेजी, संस्कृत आदि किसी भी देशी-विदेशी भाषा को पढ़ाने वाले अध्यापकों के लिए भाषिकी का व्यवस्थित अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। इसके बिना हमारे विद्यार्थियों का समय, धन, श्रम अनावश्यक रूप से बरबाद होता रहेगा और उनकी बौद्धिक क्षमता का यथेष्ट विकास नही हो सकेगा। यह एक गंभीर राष्ट्रीय क्षति है, जिसे भापिकी का व्यापक उपयोग ही दूर कर सकता है।

९·४ मनुष्य की **उच्चारण-विषयक शारीरिक कमियों को दूर** करने में स्वानिकी उपयोगी होती है। ध्वनियों के निर्माण के विषय में स्वानिकी से पूरी जानकारी प्राप्त करके चिकित्सा-शास्त्री उसका अपने ढंग से उपयोग करते है।

९·५ ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रकार के **यंत्रों के निर्माण** में स्वानिकी का आधार उपादेय होता है। ग्रामोफोन, टेपरिकार्डर, रेडियो, टेलीफोन आदि का स्वरूपोत्कर्ष स्वानिकी की सहायता से ही होता है और हो सकता है। ध्वनियाँ किस प्रकार अत्यंत स्पष्ट रूप में सुनाई पड़ सकती है; उन्हें किस प्रकार अत्यंत स्वाभाविक बनाया जा सकता है; उनकी प्रेषणीयता की मात्रा में किस प्रकार वृद्धि हो सकती है—इस प्रकार की बातों का उत्तर देने में स्वानिकी सहायक होती है।

९·५ अनेक विश्व-संस्थाओं तथा राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना के साथ-साथ यह बात आवश्यक होती जाती है कि एक भाषा का अनुवाद एक साथ अनेक भाषाओं में होता जाय। इस कार्य के लिए सुयोग्य और **प्रशिक्षित अनुवादकों** की आवश्यकता होती है। भाषिक इस कार्य के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हो सकता है। भाषिकी की ही सहायता से यह भी संभव हो सका है कि मनुष्य अनुवाद का कार्य नहीं करता; यह कार्य **मशीनें** करने लगी हैं। भाषिकी की सहायता के बिना इस प्रकार की मशीनों का निर्माण असंभव है।

९·६ आज के युग में भाषाओं का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। भाषिकी यह बताती है कि किस प्रकार के भाषण के लिए किस प्रकार की बातें आवश्यक होती हैं, ताकि उसका प्रभाव अधिकतम हो। नाटक और सिनेमा के अभिनय में किस प्रकार बोलना चाहिए; धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक व्याख्यान में क्या-क्या होना चाहिए—इस प्रकार की सूचनाएँ भाषिकी दे सकती है। **बोलने और लिखने में प्रभविष्णुता** की दृष्टि से अन्तर होता है। इन दोनों के सम्बन्ध में भाषिकी न केवल अलग-अलग सूचनाएँ दे सकती है; वह इन दोनों में प्रभविष्णुता लाने के लिए अलग-अलग प्रशिक्षण भी दे सकती है।

९·७ आज सभी उन्नतिशील राष्ट्रों में टेक्नॉलजी का बोल-बोला है। टेक्नॉलजी के लिए भाषिक अनुसंधान कितने आवश्यक और उपादेय हैं, इस बात का प्रमाण यह है कि अमरीका आदि विकसित देशों में ही नहीं, भारत-सरीखे विकासमान देश में भी **टेक्नॉलजी** के संस्थान भाषिकी के प्रोफ़ेसरों तथा असोशिएट प्रोफ़ेसरों के बिना अधूरे समझे जाते हैं।

आठवाँ अध्याय

भाषिकी की शाखाएँ

१. भाषिकी के दो विभाग भाषा के काल-विस्तार की दृष्टि से किये जाते हैं। यदि समय के किसी एक विन्दु पर (अर्थात् व्यावहारिक रूप में अपेक्षाकृत छोटे काल-खंड की) भाषा का अध्ययन तथा विश्लेषण किया जाता है तो हम उसे **सांकालिक भाषिकी** के अन्तर्गत रखते हैं। यदि यह काल-खंड अपेक्षाकृत विस्तृत होता है तो ऐसा अध्ययन **कालक्रमिक भाषिकी** कहलाता है। **वर्णनात्मक भाषिकी** और **ऐतिहासिक भाषिकी** सामान्यतः क्रमशः इनके पर्यायों के रूप में प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं; किन्तु कुछ विद्वान् इन्हें अपेक्षाकृत संकीर्ण अर्थ प्रदान करते हैं। भाषिकी की निम्नलिखित शाखाएँ सांकालिक भी हो सकती हैं और कालक्रमिक भी। इस प्रकार यह द्विविध वर्गीकरण अपेक्षाकृत व्यापक है और अन्य वर्गीकरणों को इसके अन्तर्गत आना पड़ता है। केवल कालक्रमिक भाषिकी से सम्बन्ध रखने वाली शाखा के रूप में **भाषाकालविज्ञान** उल्लेखनीय है जो भाषाओं की वय का निर्धारण करती है और उनके जीवन में आये हुए आरोहों-अवरोहों का विचार करती है।

२. भाषिकी के विभाग भाषाओं के देश-विस्तार की दृष्टि से भी होते हैं। यदि देश-विस्तार से भाषाओं की संख्या एकाधिक हो जाती है तो उनकी तुलना पर दृष्टि होने से **तुलनात्मक भाषिकी** का निर्माण होता है। तुलनात्मक भाषिकी कालक्रमिक या सांकालिक हो सकती है; किन्तु सांकालिक होने पर यदि प्रत्येक भाषा के लक्षणों का उल्लेख पृथक्-पृथक् न किया जाय और मिलते-जुलते लक्षणों वाली भाषाओं के वर्ग बनाकर उन वर्गों की तुलना पर बल हो तो इस प्रकार के अध्ययन को **प्रकारविज्ञान** के अन्तर्गत रक्खा जाता है। प्रकारविज्ञान में भाषाओं के प्रकार का विवेचन किया जाता है।

यदि तुलना पर बल न दिया जाय और देश-विस्तार में बोलियों के प्रयोग की खोज-मात्र की जाय, बोलियों का वर्णन किया जाय और बोलियों के प्रसार-क्षेत्र का निर्धारण किया जाय तो हम इसे **बोलीविज्ञान** के अन्तर्गत रखते हैं। जब बोलियों के भौगोलिक वितरण पर बल दिया जाता है; विविध ध्वनियों, रूपों, अर्थों आदि के प्रसार का संकेत करने वाले मानचित्र तैयार किये जाते हैं तो हम इसे **बोलीभूगोल** की संज्ञा देते हैं। बोलीभूगोल बोलीविज्ञान का ही अंग है। बोलीविज्ञान भी सांकालिक या ऐतिहासिक हो सकता है।

३. भाषा की पाँच उपव्यवस्थाओं के अध्ययन पाँच नामों से अभिहित किये जाते हैं :—**स्वानिकी, स्वानिमी, व्याकरण. मर्षस्वानिमी** और **सीमान्तिकी** । इनका परिचय पीछे दिया जा चुका है । चूँकि ये भाषा के अंगों के अध्ययनों के नाम हैं; इसलिए किसी भी भाषा का अध्ययन किया जाय, सारे या कई अंगों का या किसी-न-किसी अंग का ही अध्ययन किया जायगा । किसी भी भाषा के पूर्ण अध्ययन के लिए इन पाँचों ही अंगों का अध्ययन आवश्यक है । यदि किसी विशेष भाषा के अध्ययन का प्रसंग न हो बल्कि इन अंगों की सामान्य प्रकृति का सैद्धान्तिक विवेचन हो तो ऐसा अध्ययन सांकालिक-कालक्रमिक वर्गीकरण से भिन्न रक्खा जाना चाहिए (क्योंकि वह किसी निश्चित समय-विन्दु की भाषा का अध्ययन नहीं करता; उसके सामान्य लक्षण किसी भी समय की भाषा पर लागू हो सकते हैं) ।§ सांकालिक-कालक्रमिक वर्गीकरण का प्रयोग तब करना चाहिए जब किसी विशेष भाषा या भाषाओं के विवेचन का प्रसंग हो ।

इस संदर्भ में यहाँ इतना और उल्लेख किया जा सकता है कि ध्वनि-स्तर पर अर्थभेदक तत्त्वों का अध्ययन करने वाली कोपेनहैगेन स्कूल की शाखा का नाम **ग्लासिमी** है । इसे हम स्वानिमी का ही एक प्रकार का रूप मान सकते हैं ।

भाषिकी की दो शाखाएँ और हैं जो व्याकरणिक उपव्यवस्था के अन्तर्गत आती हैं । **कोशविज्ञान** हमें कोश-निर्माण के संबंध में वैज्ञानिक जानकारी देता है । कोश में संगृहीत मामग्री व्याकरणिक उपव्यवस्था के स्तर से ली जाती है क्योंकि उसमें शब्दों का संकलन होता है और उनकी वाक्य-व्यवहार की प्रकृति का प्रतिविम्ब होता है । उनके अर्थ का निश्चय इसे सीमान्तिकी से भी संबद्ध करता है ; किन्तु चूँकि किसी शब्द का अर्थ उसके प्रयोग की समस्त विभिन्न संभावनाओं से पृथक् कुछ नहीं होता, इसलिए इसे केवल व्याकरणिक उपव्यवस्था के अन्तर्गत रखना अनुचित नहीं है । कोश-निर्माण में भी सांकालिक और कालक्रमिक दोनों ही दृष्टियाँ हो सकती हैं । **व्युत्पत्तिशास्त्र** शब्दों के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करता है और उन्हें तत्सम, तद्भव आदि कोटियों में रखता है । वास्तव में हमारे उपर्युक्त विवेचन में इसके पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं है ; क्योंकि ऐतिहासिक भाषिकी शब्दों के ऐतिहासिक विकास का भी अध्ययन करती है ; ध्वनि, वाक्य और अर्थ आदि के

---

§किन्तु चूँकि इसमें भाषा की परिवर्त्तनशीलता के नियमों का विवेचन नहीं होता अर्थात् एक ही भाषा एक हजार वर्ष में किस प्रकार परिवर्तित होती चलती है, इसका निर्धारण नहीं होता इसलिए यह वर्गीकरण लागू ही करना हो तो इसे मांकालिक कहना चाहिए (क्योंकि यह किसी एक विशिष्ट समय-विन्दु के लिए न सही, किसी भी समय-विन्दु के लिए तो यथार्थ होता ही है) ।

ही विकास के विवेचन से संतुष्ट नही हो जाती । फिर भी अत्यधिक प्रचलित होने के कारण इस शब्द का उल्लेख यहाँ कर दिया गया है ।

४. भाषिकी की उपर्युक्त विभिन्न शाखाओं का स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :—

	सांकालिक या कालक्रमिक					
प्रकार विज्ञान	तुलनात्मक या अ तुलनान्मक					बाली विज्ञान
	स्वानिकी	स्वानिमी	मर्षस्वानिमी	व्याकरण	सीमान्तिकी	
		ग्लासिमी		कोशविज्ञान		
				व्युत्पत्ति शास्त्र		

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त शाखाएँ भाषिकी के विभिन्न आधारों पर विभाजन का परिणाम हैं । जहाँ तक महत्व का संबंध है, प्रत्येक शाखा का समान महत्व है । इसलिए किन्ही शाखाओं को प्रधान और किन्ही को गौण कहना अवैज्ञानिक तथा भ्रामक है ।

नवाँ अध्याय

भाषिकी का अन्य विषयों से सम्बन्ध

१. **व्याकरण** से भाषिकी का बड़ा अभिन्न सम्बन्ध है। प्रत्येक भाषा का अपना अलग व्याकरण होता है। व्याकरण निर्मित करने के मूल सिद्धान्त सभी भाषाओं के लिए यथार्थ होते है और इन्ही मूल सिद्धान्तों के संचय को हम भाषिकी कहते है। यही कारण है कि भाषिकी को 'व्याकरण का व्याकरण' कहा गया है। सामान्य जन के शब्दों में कहें तो व्याकरण अन्धा होता है, वह अपने कार्यो का औचित्य-अनौचित्य सिद्ध करने और उनका विश्लेषण करने नहीं बैठता। वह किसी भी भाषा का वर्णन कर देता है और लोगों को आँख मूँदकर उसका अनुवर्त्तन करने के लिए प्रेरित करता है। भाषिकी व्याकरण की आँख है, जो व्याकरण के कार्यो का निरीक्षण किया करती है। यदि व्याकरण कहता है कि अमुक भाषा में अमुक वाग्भाग है और अमुक व्याकरणिक कोटियाँ हैं तो भाषिकी इसके पहले यह बता चुकती है कि वाग्भागों का निर्धारण और व्याकरणिक कोटियों की स्थापना कैसे करनी चाहिए। किन्तु उपर्युक्त विवेचन का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि भाषिकी और व्याकरण में केवल कारण-कार्य अथवा शासक-शासित का संबध है। इनका संबंध अंगी-अंग का भी है। व्याकरण स्वयं भाषिकी की उपज है और उसका एक भाग है।

२. **लिपिशास्त्र** से भाषिकी का सबंध है। भाषिकी भाषा का विश्लेषण करती है और अपने निष्कर्षो को अंकित करने के लिए लिपि का सहारा लेती है। भाषिक कार्य के लिए लिपि का सफलतम उपयोग हो सके, यह देखना लिपिशास्त्र का कार्य है। पुरानी भाषाओं का जो रूप हमें ऐतिहासिक अध्ययन के निमित्त आज प्राप्त होता है, वह लिपि के कारण ही। पुरानी भाषाओं की ऐसी सामग्री यदि किसी अपरिचित लिपि में होती है तो उसे पढना लिपिशास्त्र की सहायता से ही संभव होता है। भाषिकी के अध्ययन से लिपि-निर्माण तथा लिपि-संशोधन के लिए लिपिशास्त्री को आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त हो जाती हैं।

३. **साहित्य** भी भाषिकी से संबंध रखने वाला विषय है। साहित्य का साधन भाषा है और भाषिकी हमें भाषा पर अधिकार प्रदान करती है। भाषिकी का अध्ययन करने के बाद हमें साहित्य में अपनी अभिव्यक्ति को पुष्ट करने का अवसर मिलता है। प्राचीन साहित्य के शब्दों तथा रूपों को समझने में भी भाषिकी सहायक होती है। पाठ-शोध के लिए तो भाषिकी आवश्यक है ही। साहित्य भी भाषिकी के

लिए सहायक होता है। ऐतिहासिक भाषिकी के लिए प्राचीन और मृत भाषाओ की आवश्यकता पड़ती है और ऐसी भाषाएँ हमें लिखित रूप में साहित्य के माध्यम से ही प्राप्त होती है। मौखिक परम्परा से चला आ रहा लोक-साहित्य हमें भापा के कुछ ऐसे रूप प्रदान करता है जो बोलचाल की सामान्य भाषा में प्राप्त नही होते। लिपिबद्ध हो जाने पर साहित्य भाषा की स्वाभाविक परिवर्त्तनशीलता को भी कुछ-न-कुछ प्रभावित करता है। इस प्रकार के प्रभाव की दिशा और मात्रा का अध्ययन हमारे सामने भाषिकी का एक नया रूप उद्घाटित करता है।

४. **शरीरविज्ञान** से भाषिकी की अन्य शाखाओ की अपेक्षा स्वानिकी का अधिक निकट का सबध है। ध्वनियों के उच्चारण की प्रक्रिया समझने के लिए हमे वागगों पर विचार करना पड़ता है और वागगों के संबंध मे आवश्यक जानकारी हमे शरीरविज्ञान में मिलती है। औच्चारिकी के अतिरिक्त श्रौतिकी से भी शरीरविज्ञान का संबंध है क्योकि श्रवण-विधि की शारीरिक प्रक्रिया पर शरीरविज्ञान ही प्रकाश डाल सकता है। मुख-सुख अर्थात् प्रयत्न-लाघव की प्रवृति शब्दों के रूप-परिवर्त्तन के लिए उत्तरदायी ठहराई जाती है। मुख-सुख की प्रवृत्ति की प्रकृति तथा कारणों पर शरीरविज्ञान ही प्रकाश डाल सकता है। वागंगों की शरीरवैज्ञानिक स्थिति पर प्रकाश डालने में स्वानिकी सहायक होती है।

५. सांचारिकी का घनिष्ठ संबंध **भौतिकी** से है। ध्वनि-तरगो का विश्लेषण एक ऐसा विषय है जिसमे दोनो की ही रुचि है। सांचारिकी के अध्ययन मे काम देने वाले अनेक यंत्र भौतिकी के लिए भी आवश्यक हैं।

६. बोलना, सुनना और समझना ऐसी क्रियाएँ हैं जिनके लिए मन की स्थिति भी एक ध्यान में रखने वाली बात है। किसी परिस्थिति में हम क्या बोलते है, यह हमारी मन.स्थिति पर निर्भर करता है। सुनने के लिए भी हमारी मनःस्थिति का ठीक होना आवश्यक है और किसी बात को सुनकर हम उसे किस प्रकार समझते है, यह तो मनोविज्ञान का विवेच्य है ही। इस प्रकार **मनोविज्ञान** से भी भाषिकी का निकट संबंध है। उच्चारण के पहले और श्रवण के बाद मनोविज्ञान का क्षेत्र आता है। किसी शब्द के अर्थ को हम क्रमश. किस प्रकार अर्जित करते चलते है, सीमान्तिकी के इस प्रश्न पर मनोविज्ञान प्रकाश डाल सकता है। मनोविज्ञान के लिए भाषिकी भी सहायक होती है क्योंकि किसी व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक परीक्षा के लिए उसकी भाषा की परीक्षा भी की जाती है और भाषा की परीक्षा में भाषिकी सहायता देती है।

७. **इतिहास** को भाषिकी की देन यह है कि वह भाषा की परीक्षा करके इतिहास के अन्धकारपूर्ण युग पर प्रकाश डालती है। भाषा की सर्वांगीण परीक्षा इतिहास को या तो ऐसी जानकारी देती है जो वैसे उसे सुलभ नही होती अथवा अन्य साधनों से सुलभ जानकारी का खंडन-मंडन करती है। भाषाओं का पारिवारिक

वर्गीकरण इतिहास के एक अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय का निर्माण करता है। किसी भाषा की ध्वनि-प्रकृति और शब्दावली का अध्ययन उस भाषा के बोलने वालों के भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पर अद्वितीय प्रकाश डाल सकता है।

८. **भूगोल** का सबध भी भाषिकी से है। भाषा के विकास पर किन भौगोलिक तत्त्वो ने प्रभाव डाला है, इस बात का पता भाषिकी को भूगोल की सहायता से लग सकता है। भाषाओं के प्रसार का अध्ययन और उनका क्षेत्र-निर्धारण भाषिकी और भूगोल को किस प्रकार एक कर देता है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण बोली-भूगोल है।

९. **समाजविज्ञान** को भाषिकी की देन केलल यही नही है कि वह समाज के विधायक तत्व भाषा पर विचार करती है, वह विभिन्न सामाजिक उपयोगों के लिए भाषा के प्रयोज्य स्वरूपो की विभिन्नता पर भी प्रकाश डालती है। समाजविज्ञान इस विभिन्नता के कारणों तथा परिस्थितियों को समझाने की चेष्टा करता है। भाषा का सांकालिक और कालक्रमिक अध्ययन समाज की परिस्थितियों का चित्र प्रस्तुत करता है तथा समाजविज्ञान भाषा के सांकालिक प्रयोग और कालक्रमिक परिवर्तन पर प्रकाश डालता है।

१०. **नृविज्ञान** से भाषिकी का कैसा संबध है, इसका आभास इसी से मिल जाना चाहिए कि विदेशों के कई विश्वविद्यालयों में एक ही व्यक्ति दोनों विषयों का प्रोफेसर हो सकता है और अनेक सुप्रसिद्ध भाषिक वस्तुतः नृविज्ञानी है। नृविज्ञान के अध्ययन की व्यवस्था जहाँ की जाती है, वहाँ भाषिकी के अध्ययन की भी व्यवस्था की जाती है। नृविज्ञान मानव-जाति का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला विषय है। इसमें विभिन्न मनुष्य समुदायो की सभ्यता, संस्कृति आदि का अध्ययन किया जाता है। समाज के मनोविज्ञान, समाज के अन्धविश्वासों, समाज की पद्धतियो और त्यौहारों आदि का अध्ययन नृविज्ञान के अन्तर्गत आता है। चूँकि मनुष्य की संस्कृति से भाषा को किसी प्रकार अलग नही किया जा सकता, इसलिए नृविज्ञान के साथ (शारीरिक नृविज्ञान के साथ नही बल्कि सांस्कृतिक नृविज्ञान के साथ) भाषिकी का अध्ययन अनिवार्य रूप से सबद्ध है। नृविज्ञान पर बल देते हुए भाषिकी का जो अध्ययन होता है उसे नृवैज्ञानिक भाषिकी कहते है। नृविज्ञान के अध्ययन से भाषा की परीक्षा के दृष्टिकोण मे व्यापकता आती है, इसीलिए नृविज्ञान का अध्ययन भाषिकी के लिए भी उपयोगी है।

११. **तर्कशास्त्र** से भाषिकी का उतना गहरा सबंध नही है; किन्तु उसकी प्रणाली भाषिकी को प्रभावित करती है। भाषा के विविध अंगों को तर्कशास्त्र अपनी

दृष्टि से देखने की चेष्टा करता है (विशेषतः व्याकरण के स्तर पर) जिसका भाषायी मूल्यांकन भाषिकी को कुछ उपयोगी सामग्री दे सकता है।

१२. **गणित** का प्रभाव भाषिकी पर बढ़ता जा रहा है क्योंकि भाषिकी के नियमों को गणित के सूत्रों की भाँति प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाने लगा है। गणितीय भाषिकी तो भाषिकी पर गणित के प्रभाव का ही परिणाम है। गणित को भाषिकी के अध्ययन से कोई विशेष योग-दान नहीं मिलता है।

१३. **अभियंत्रण** में भी भाषिकी की उपादेयता है; क्योंकि संप्रेषणाभियत्रण को स्वानिकी की उपलब्धियों का ज्ञान आवश्यक है। रेडियो, टेलीफोन आदि का निर्माण और विकास स्वानिकी के ज्ञान को आधार बनाता है। अभियत्रण द्वारा प्राप्त अनेक यंत्र बदले में ध्वनि के वैज्ञानिक विवेचन में अनुपम सहायता पहुँचाते है।



दसवाँ अध्याय

भाषिकी की पारिभाषिक शब्दावली

१. हिन्दी-अँगरेजी

अगोलन	Unrounding
अगोलित	Unrounded
अग्र	Front
अग्र स्वर	Front Vowel
अघोष	Voiceless
अचेतन	Inanimate
अधिकरण	Locative
अनुकरणमूलकतावाद	Imitative (Bow Wow) Theory
अनुक्रम	Sequence
अनुतान	Intonation
अनुनासिकता	Nasality
अनुनासीकरण	Nasalization
अनुरणनमूलकतावाद	Ding Dong Theory
अनुली	Idiolect
अन्तर्केन्द्रिक	Endocentric
अन्तर्प्रत्यय	Infix
अन्त्य	Final
अन्त्यर	Terminal Contour
आरोही-	Rising-
अवरोही-	Fading-
सम-	Sustained-
अन्यपुरुष	Third Person
अन्विति	Agreement, Concord
अपादान	Ablative
अपूर्ण पक्ष	Imperfective Aspect
अभिकाकल	Epiglottis
अभेदक तत्व	Non-distinctive Features

अर्धविवार	Half Opening
अर्धविवृत	Half Open
अर्धसंवार	Half Closing
अर्धसंवृत	Half Close
अर्धस्वर	Semi-vowel
अलिजिह्व	Uvula
अलिजिह्वीय	Uvular
अल्पप्राण	Unaspirated
अल्पवचन	Paucal
अवरोही	Falling
अवरोही अन्त्यर	Fading Terminal Contour
अवार्णिक	Non-syllabic
अव्यय	Indeclinable
असंसक्त	Non-contiguous
आकृतिवादी	Structuralist
आघात	Accent
आदान	Borrowing
आद्य	Initial
आधार रूप	Base Form
आप्त रूप	Canonical Form
आरोहावरोही	Rising-falling
आरोही	Rising
आरोही अन्त्यर	Rising Terminal Contour
आवेगी	Interjection
आवेगीवाद	Interjectional (Pooh Pooh) Theory
उच्च सुर	High Pitch
उच्चार	Utterance
उच्चारण-स्थान	Place of Articulation
उत्कंठ	Velum
उत्कंठ्य	Velar
उत्कर्ष	Prominence
उत्कर्षी	Prominent
उत्तम पुरुष	First Person

उत्क्षिप्त	Flapped
उदासीन स्वर	Neutral Vowel
उद्देश्य	Subject
उन्मोच	Release
उपव्यवस्था	Subsystem
एकवचन	Singular Number
एकान्तरण व्याकरण	Transfer Grammar
एकाभिध	Homonym
ऐतिहासिक भाषिकी	Historical Linguistics
ओष्ठ	Lip
औच्चारिक स्वानिकी	Articulatory Phonetics
औच्चारिकी	Articulatory Phonetics
करण	Instrumental
कर्ता	Nominative
कर्तृवाच्य	Active Voice
कर्म	Accusative, Object
कर्मवाच्य	Passive Voice
कल्पक	Component
काकल	Glottis
काकल्य	Glottal
काकल्य स्पर्श	Glottal Stop
कारक	Case
(१) कर्ता-	Nominative-
कर्म-	Accusative-
करण-	Instrumental-
सम्प्रदान-	Dative-
अपादान-	Ablative-
सम्बन्ध-	Genitive-
अधिकरण-	Locative-
संबोधन-	Vocative-
(२) सरल-	Direct-
तिर्यक्-	Oblique-
काल	Tense

भूत-	Past-
वर्तमान-	Present-
भविष्य-	Future-
कालक्रमिक	Diachronic
कालक्रमिक भाषिकी	Diachronic Linguistics
केन्द्रीय	Central
केन्द्रीय उपव्यवस्था	Central Subsystem
केन्द्रीय स्वर	Central Vowel
कोटि	Category
मर्षवैज्ञानिक-	Morphological-
व्याकरणिक-	Grammatical-
कोशविज्ञान	Lexicology
क्रिया	Verb
क्रियाविशेषण	Adverb
खडीय	Segmental
खंडेतर	Suprasegmental
गणितीय भाषिकी	Mathematical Linguistics
गह्वर	Valley
गोलन	Rounding
गोलित	Rounded
गौण मानस्वर	Secondary Cardinal Vowels
ग्रसनी	Pharynx
ग्रसनीकृत	Pharyngealized
ग्रसनीय	Pharyngeal
ग्लासिमी	Glossematics
घोष	Voice
चेतन	Animate
चेतामंडल	Nervous System
चिह्नक	Marker
जपन	Whisper
जिह्वाग्र	Front of Tongue
जिह्वानोक	Tip of Tongue, Apex
जिह्वापश्च	Back of Tongue, Dorsum

जिह्वाफलक	Blade of Tongue
जिह्वामध्य	Middle of Tongue
जिह्वामूल	Root of Tongue
जीवविज्ञान	Biology
तर्कशास्त्र	Logic
तान	Tone
तालव्य	Palatal
तालुबर्स्व्य	Palato-alveolar
तिर्यक् कारक	Oblique Case
तुलनात्मक	Comparative
तुलनात्मक भाषिकी	Comparative Linguistics
त्रिवचन	Trial
दन्त	Teeth
दन्तोष्ठ्य	Labio-dental
दन्त्य	Dental
दर्वीकास्थियाँ	Arytenoid Cartilages
दीर्घ	Long
दैवीवाद	Divine Theory
दृश्यग्राह	Spectograph
दृश्यलेख	Spectogram
द्वयोष्ठ्य	Bilabial
द्विमर्ष	Diamorph
द्विवचन	Dual Number
द्विस्वर	Diphthong
धातु	Root
ध्वनि	Sound
ध्वनिगुण	Sound-attribute
नपुंसक लिंग	Neuter Gender
नासाद्वार	Velic
नासिकाविवर	Nasal Cavity
नासिक्य	Nasal
निरनुनासिक	Non-nasalized
निर्बल	Unstressed
नीच सुर	Low Pitch

नृविज्ञान	Anthropology
शारीरिक-	Physical-
सास्कृतिक-	Cultural-
नृवैज्ञानिक	Anthropological
नृवैज्ञानिक भाषिकी	Anthropological Linguistics
परप्रत्यय	Suffix
पररूपण	Progressive Assimilation
परवृत्त	Consequences
परसर्ग	Postposition
परिवेश	Environment
पश्च	Back
पश्च स्वर	Back Vowel
पक्ष	Aspect
पूर्ण-	Perfective-
अपूर्ण-	Imperfective-
पारिवारिक वर्गीकरण	Genetic (Historical) Classification
पार्श्विक	Lateral
पार्श्विक संघर्षी	Lateral fricative
पुंल्लिग	Masculine
पुनर्रचना	Reconstruction
पुरुष	Person
उत्तम-	First-
मध्यम-	Second-
अन्य-	Third-
पूरक बंटन	Complementary Distribution
पूर्वप्रत्यय	Prefix
पूर्वरूपण	Regressive Assimilation
पूर्ववृत्त	Antecedents
प्रकारविज्ञान	Typology
प्रकृतिवाद	Naturalistic Theory
प्रतिक्रिया	Reaction
प्रतीक	Symbol
प्रत्यय	Affix
पूर्वप्रत्यय	Prefix

अन्तर्प्रत्यय	Infix
परप्रत्यय	Suffix
प्रयत्न	Manner of Articulation
प्रातिपदिक	Stem
प्लुत	Extra-long
फुफ्फुस	Lung
बद्ध रूप	Bound Form
बद्ध वर्ण	Closed Syllable
बर्स्व	Alveolum, Teeth-ridge
बर्स्व-तालव्य	Alveolo-palatal
बर्स्व्य	Alveolar
बल	Stress
बली	Stressed
बहिर्केन्द्रिक	Exocentric
बहुवचन	Plural, Multiple
बाह्य उपव्यवस्था	Peripheral Subsystem
बोली	Dialect
बोलीभूगोल	Dialect Geography
बोलीविज्ञान	Dialectology
भनभनाहट	Murmur
भविष्य	Future
भावानयन	Abstraction
भावानीत	Abstracted
भाषा	Language
भाषाकालविज्ञान	Glottochronology
भाषायी	Linguistic (pertaining to language)
भाषिक	Linguistic (pertaining to linguistics)
भाषिक	Linguist
भाषिकी	Linguistics
(१) सांकालिक-	Synchronic-
कालक्रमिक-	Diachronic-
(२) वर्णनात्मक-	Descriptive-
ऐतिहासिक-	Historical-
(३) तुलनात्मक-	Comparative-

(४) नृवैज्ञानिक-	Anthropological-
(५) गणितीय-	Mathematical-
भूत	Past
भेदक तत्व	Distinctive Features
भौतिकी	Physics
मध्य	Medial
मध्यम पुरुष	Second Person
मर्ष	Morph
मर्षविज्ञान	Morphology
मर्षवैज्ञानिक	Morphological
मर्षस्वानिमिक	Morphophonemic
मर्षस्वानिमिक परिवर्तन	Morphophonemic Change
मर्षस्वानिमी	Morphophonemics
मर्षिम	Morpheme
मर्षिम बंटन	Morpheme Distribution
महाप्राण	Aspirated
मात्रा	Length
मान स्वर	Cardinal Vowels
गौण-	Secondary Cardinal Vowels
मार्षिमिक	Morphemic
मार्षिमी	Morphemics
मुक्त रूप	Free Form
मुक्त वर्ण	Open Syllable
मुक्त विभेद	Free Variation
मुखरता	Sonority
मुख-विवर	Oral Cavity
मूर्धन्य	Retroflex
मूर्धा	Dome
मूल स्वर	Monophthong, Pure Vowel
रचना	Construction
रचना-प्रकार	Construction Type
रूप	Form
मुक्त-	Free-
बद्ध-	Bound-

रूपायन	Inflection
रूपायित	Inflected
रूपायित कोटि	Inflectional Category
लघुतम युग्म	Minimal Pair
लघ्वाघात	Tap
लक्षण	Quality
लिंग	Gender
(१) पुंल्लिंग	Masculine-
स्त्रीलिंग	Feminine-
नपुंसक लिंग	Neuter-
(२) चेतन-	Animate-
अचेतन-	Inanimate-
लिपि	Script
लिपिचिह्न	Letter
लिपिशास्त्र	Graphonomy
लुंठन	Rolling
लुंठित	Rolled
वर्गीकरण	Classification
वचन	Number
(१) एक-	Singular-
द्वि-	Dual-
त्रि-	Trial-
बहु-	Plural-
(२) अल्प-	Paucal-
बहु-	Multiple-
वर्ण	Syllable
मुक्त-	Open-
बद्ध-	Closed-
वर्णन्यष्टि	Syllable Nucleus
वर्णनात्मक	Descriptive
वर्णनात्मक भाषिकी	Descriptive Linguistics
वर्तनी	Orthography, Spelling
वर्तमान	Present
वाक्प्रतीक	Vocal Symbol

वाक्य	Sentence
वाक्यविज्ञान	Syntax
वाक्य-शृंखलता	Syntactical Linkage
वाक्यांश	Phrase
वागंग	Organs of Speech
वाग्भाग	Parts of Speech
वाग्यंत्र	Speech Tract
वाच्य	Voice
कर्तृ-	Active
कर्म-	Passive
वार्णिक	Syllabic
विधेय	Predicate
विपर्यय	Metathesis
विभेद	Variation, Variant
विरूपण	Dissimilation
विवार	Opening
विवृत	Open
विवृति	Juncture
वृत्ति	Mood
वैयाकरण	Grammarian
व्यंजन	Consonant
व्यंजनात्मक स्वर	Consonantal Vowel
व्यतिरेक	Contrast
व्यवस्था	System
व्याकरण	Grammar
व्याकरणिक कोटि	Grammatical Category
रूपायित-	Inflectional
चयनात्मक-	Selective
व्यावर्तक	Exclusive
व्यावहारिक भाषिकी	Applied Linguistics
व्युत्पत्ति	Etymology
व्युत्पत्तिशास्त्र	Etymology
शब्द	Word
शरीरविज्ञान	Physiology

शरीरवैज्ञानिक	Physiological
शारीरिक नृविज्ञान	Physical Anthropology
शासन	Government
शिखर	Peak
श्रमपरिहरणमूलकतावाद	Yo-he-ho Theory
श्रुति	Glide
श्रौत	Auditory
श्रौत स्वानिकी	Auditory Phonetics
श्रौतिकी	Auditory Phonetics
संकेतवाद	Gestural Theory
संघटक	Constituent
संघटन	Constitute
संघर्षहीन प्रवाही	Frictionless Continuant
संघर्षी	Fricative, Spirant
सप्रदान	Dative
सप्रेषण	Communication
मप्रेषणाभियंत्र	Communication Engineering
संबंध	Genitive
सबोधन	Vocative
समर्ष	Allomorph
संयोजक	Conjunction
सरूपण	Assimilation
सरोहण	Coalescence
सवार	Closing
सवृत	Close
ससक्त	Contiguous
सस्वन	Allophone
संस्वनन	Allophonicization
सज्ञा	Noun
सघोष	Voiced
सम अन्त्यर	Sustained Terminal Contour
सम सुर	Level Pitch
समकालिक	Simultaneous
समाजविज्ञान	Sociology

समावेशी	Inclusive
समीपी संघटक	Immediate Constituents
सम्प्रदान	Dative
सम्प्रेषण	Communication
सम्प्रेषणाभियंत्रण	Communication Engineering
सरल कारक	Direct Case
सर्वनाम	Pronoun
सांकालिक	Synchronic
सांकालिक भाषिकी	Synchronic Linguistics
सांचारिक	Acoustic
सांचारिक स्वानिकी	Acoustic Phonetics
सांचारिकी	Acoustics
सास्कृतिक नृविज्ञान	Cultural Anthropology
सास्वनिकी	Allophonics
सानुनासिक	Nasalized
सानुनासिक स्वर	Nasalized Vowel
साहित्य	Literature
सीमान्तिक	Semantic
सीमान्तिकी	Semantics
सुर	Pitch
(१) उच्च-	High-
नीच-	Low-
सम-	Level-
(२) आरोही-	Rising-
अवरोही-	Falling-
आरोहावरोही-	Rising-falling-
सुर-स्तर	Pitch Level
सूचक	*Referend
सूचन	Reference
सूचन का त्रिकोण	Triangle of Reference
सूच्य	Referent
स्त्रीलिंग	Feminine Gender
स्थान	Place cf Articulation
स्पघर्ष	Affricate

स्पर्श	Stop
स्फुरण	Stimulus
स्वन	Phone
स्वनज्ञ	Phonetician
स्वनिक	Phonetic
स्वनिम	Phoneme
स्वनिमन	Phonemicization
स्वनिमज्ञ	Phonemician
स्वर	Vowel
(१) संवृत-	Close-
अर्धसंवृत-	Half-close-
अर्धविवृत-	Half-open-
विवृत-	Open-
(२) अग्र-	Front-
पश्च-	Back-
केन्द्रीय-	Central-
(३) गोलित-	Rounded-
अगोलित-	Unrounded-
(४) मूल स्वर	Monophthong, Pure Vowel
द्विस्वर	Diphthong
(५) व्यंजनात्मक-	Consonantal-
(६) उदासीन-	Neutral-
(७) निरनुनासिक-	Non-nasalized, Oral-
सानुनासिक-	Nasalized-
स्वर-चतुष्कोण	Vowel Triangle
स्वरतंत्रियाँ	Vocal Cords
स्वरयंत्र	Larynx
स्वरसीमा	Vowel-limit
स्वानिमिक	Phonemic
स्वानिकी	Phonetics
औच्चारिक-	Articulatory-
सांचारिक-	Acoustic-
श्रौत-	Auditory-
स्वानिमी-	Phonemics
ह्रस्व	Short

२. अंगरेजी-हिन्दी

Ablative	अपादान
Abstracted	भावानीत
Abstraction	भावानयन
Accent	आघात
Accusative	कर्म
Acoustic	सांचारिक
Acoustic Phonetics	सांचारिक स्वानिकी
Acoustics	सांचारिकी
Active Voice	कर्तृवाच्य
Adjective	विशेषण
Adverb	क्रियाविशेषण
Affix	प्रत्यय
Prefix	पूर्वप्रत्यय
Infix	अन्तर्प्रत्यय
Suffix	परप्रत्यय
Affricate	स्पघर्ष
Agreement	अन्विति
Allomorph	संमर्ष
Allophone	संस्वन
Allophonicization	संस्वनन
Allophonics	सांस्वनिकी
Alveolar	बर्त्स्य
Alveolo-palatal	बर्त्स्व-तालव्य
Alveolum	बर्त्स्व
Animate	चेतन
Antecedents	पूर्ववृत्त
Anthropological	नृवैज्ञानिक
Anthropological Linguistics	नृवैज्ञानिक भाषिकी
Anthropology	नृविज्ञान
Physical-	शारीरिक-
Cultural-	सांस्कृतिक-
Apex	जिह्वानोक

Applied Linguistics	व्यावहारिक भाषिकी
Arytenoid Cartilages	दर्वीकास्थियाँ
Articulatory Phonetics	औच्चारिकी, औच्चारिक स्वानिकी
Aspect	पक्ष
Perfective-	पूर्ण-
Imperfective-	अपूर्ण-
Aspirated	महाप्राण
Assimilation	संरूपण
(1) Progressive-	पररूपण
Regressive-	पूर्वरूपण
(2) Contiguous-	संसक्त-
Non-contiguous-	असंसक्त-
Auditory Phonetics	श्रौतिकी, श्रौत स्वानिकी
Back	पश्च
Back of Tongue	जिह्वापश्च
Back Vowel	पश्च स्वर
Base Form	आधार रूप
Bilabial	द्वयोष्ठ्य
Biology	जीवविज्ञान
Blade of Tongue	जिह्वाफलक
Borrowing	आदान
Bound Form	बद्ध रूप
Bow-wow Theory	अनुकरणमूलकतावाद
Canonical Forms	आप्त रूप
Cardinal Vowels	मान स्वर
Secondary—	गौण मानस्वर
Case	कारक
(1) Nominative-	कर्त्ता-
Accusative-	कर्म-
Instrumental-	करण-
Dative-	सम्प्रदान-
Ablative-	अपादान-
Genitive-	संबंध-

Locative-	अधिकरण-
Vocative-	संबोधन-
(2) Direct-	सरल-
Oblique-	तिर्यक्-
Category	कोटि
Morphological-	मर्षवैज्ञानिक-
Grammatical-	व्याकरणिक-
Central	केन्द्रीय
Central Subsystem	केन्द्रीय उपव्यवस्था
Central Vowel	केन्द्रीय स्वर
Classification	वर्गीकरण
Close	संवृत
Close Vowel	संवृत स्वर
Closed syllable	बद्ध वर्ण
Closing	सवार
Coalescence	संरोहण
Communication	संप्रेषण
Communication Engineering	संप्रेषणाभियंत्रण
Comparative	तुलनात्मक
Comparative Linguistics	तुलनात्मक भाषिकी
Complementary Distribution	पूरक बंटन
Component	कल्पक
Concord	अन्विति
Conjunction	संयोजक
Consequences	परवृत्त
Consonant	व्यजन
Consonantal Vowel	व्यंजनात्मक स्वर
Constituent	संघटक
Constitute	संघटन
Construction	रचना
Construction Type	रचना-प्रकार
Contiguous Assimilation	संसक्त संरूपण
Contrast	व्यतिरेक

Cultural Anthropology	सास्कृतिक नृविज्ञान
Dative	सम्प्रदान
Dental	दन्त्य
Descriptive	वर्णनात्मक
Descriptive Linguistics	वर्णनात्मक भाषिकी
Diachronic	कालक्रमिक
Diachronic Linguistics	कालक्रमिक भाषिकी
Dialect	बोली
Dialect Geography	बोलीभूगोल
Dialectology	बोलीविज्ञान
Diamorph	द्विमर्ष
Ding Dong Theory	अनुरणनमूलकतावाद
Diphthong	द्विस्वर
Direct Case	सरल कारक
Dissimilation	विरूपण
Distinctive Features	भेदक तत्व
Divine Theory	दैवीवाद
Dome	मूर्धा
Dorsum	जिह्वापश्च
Dual Number	द्विवचन
Endocentric	अन्तर्केन्द्रिक
Environment	परिवेश
Epiglottis	अभिकाकल
Etymology	व्युत्पत्ति, व्युत्पत्तिशास्त्र
Exclusive	व्यावर्तक
Exocentric	बहिर्केन्द्रिक
Extra-long	प्लुत
Fading Terminal Contour	अवरोही अन्त्यर
Falling	अवरोही
Feminine Gender	स्त्रीलिंग
Final	अन्त्य
First Person	उत्तम पुरुष
Flapped	उत्क्षिप्त
Form	रूप

Free-	मुक्त रूप
Bound-	बद्ध रूप
Free Form	मुक्त रूप
Free Variation	मुक्त विभेद
Fricative	सघर्षी
Frictionless Continuant	सघर्षहीन प्रवाही
Front	अग्र
Front of Tongue	जिह्वाग्र
Front Vowel	अग्र स्वर
Future	भविष्य
Gender	लिंग
(1) Masculine-	पु ल्लिग
Feminine-	स्त्रीलिंग
Neuter-	नपु सक लिग
(2) Animate-	चेतन-
Inanimate-	अचेतन-
Genetic Classification	पारिवारिक वर्गीकरण
Genitive	सबध
Gestural Theory	सकेतवाद
Glide	श्रुति
Glossematics	ग्लासिमी
Glottal	काकल्य
Glottal Stop	काकल्य स्पर्श
Glottis	काकल
Glottochronology	भाषाकालविज्ञान
Government	शासन
Grammar	व्याकरण
Grammarian	वैयाकरण
Grammatical	व्याकरणिक
Grammatical Category	व्याकरणिक कोटि
Inflectional-	रूपायित-
Selective-	चयनात्मक-
Graphonomy	लिपिशास्त्र

Half Close	अर्धसंवृत
Half Closing	अर्धसंवार
Half Open	अर्धविवृत
Half Opening	अर्धविवार
High Pitch	उच्च सुर
Historical	ऐतिहासिक
Historical Classification	ऐतिहासिक वर्गीकरण
Historical Linguistics	ऐतिहासिक भाषिकी
Homonym	एकाभिध
Idiolect	अनुली
Imitative Theory	अनुकरणमूलकतावाद
Immediate Constituents	समीपी संघटक
Imperfective Aspect	अपूर्ण पक्ष
Inanimate	अचेतन
Inclusive	समावेशी
Indeclinable	अव्यय
Infix	अन्तर्प्रत्यय
Inflected	रूपायित
Inflection	रूपायन
Inflectional Category	रूपायित कोटि
Initial	आद्य
Instrumental	करण
Interjection	आवेगी
Interjectional Theory	आवेगीवाद
Intonation	अनुतान
Juncture	विवृति
Labio-dental	दन्तोष्ठ्य
Language	भाषा
Larynx	स्वरयंत्र
Lateral	पार्श्विक
Lateral Fricative	पार्श्विक संघर्षी
Length	मात्रा
Letter	लिपिचिह्न

Level Pitch	सम सुर
Lexicology	कोशविज्ञान
Linguist	भाषिक
Linguistic (भाषा-विषयक)	भाषायी
Linguistic (भाषिकी-विषयक)	भाषिक
Linguistics	भाषिकी
(1) Synchronic	साकालिक
Diachronic	कालक्रमिक
(2) Descriptive	वर्णनात्मक
Historical	ऐतिहासिक
(3) Comparative	तुलनात्मक
(4) Anthropological	नृवैज्ञानिक
(5) Mathematical	गणितीय
Lip	ओष्ठ
Literature	साहित्य
Locative	अधिकरण
Logic	तर्कशास्त्र
Long	दीर्घ
Low Pitch	नीच सुर
Lung	फुफ्फुस
Manner of Articulation	प्रयत्न
Marker	चिह्नक
Masculine Gender	पुंल्लिग
Mathematical Linguistics	गणितीय भाषिकी
Medial	मध्य
Metathesis	विपर्यय
Middle of Tongue	जिह्वामध्य
Minimal Pair	लघुतम युग्म
Monophthong	मूल स्वर
Mood	वृत्ति
Morph	मर्ष
Morpheme	मर्षिम
Morpheme Distribution	मर्षिम बंटन

Morphemic	मार्षिमिक
Morphemics	मार्षिमी
Morphological	मर्षवैज्ञानिक
Morphological Category	मर्षवैज्ञानिक कोटि
Morphology	मर्षविज्ञान
Morphophonemic	मर्षस्वानिमिक
Morphophonemic Change	मर्षस्वानिमिक परिवर्तन
Morphophonemics	मर्षस्वानिमी
Multiple Number	बहुवचन
Murmur	भनभनाहट
Nasal	नासिक्य
Nasal Cavity	नासिका विवर
Nasality	अनुनासिकता
Nasalization	अनुनासीकरण
Nasalized	सानुनासिक
Nasalized Vowel	सानुनासिक स्वर
Naturalistic Theory	प्रकृतिवाद
Nervous System	चेतामंडल
Neuter Gender	नपुसकलिग
Neutral Vowel	उदासीन स्वर
Nominative	कर्त्ता
Non-contiguous	असंसक्त
Non-distinctive Features	अभेदक तत्त्व
Non-nasalized	निरनुनासिक
Non-syllabic	अवार्णिक
Noun	संज्ञा
Number	वचन
(1) Singular	एकवचन
Dual	द्विवचन
Trial	त्रिवचन
Plural	बहुवचन
(2) Paucal	अल्पवचन
Multiple	बहुवचन
Object	कर्म

Oblique Case	तिर्यक कारक
Open	मुक्त, विवृत
Open Syllable	मुक्त वर्ण
Open Vowel	विवृत स्वर
Opening	विवार
Oral	निरनुनासिक
Oral Cavity	मुख-विवर
Organs of speech	वागंग
Orthography	वर्तनी
Palatal	तालव्य
Palato-alveolar	तालु-बस्र्व्य
Parts of speech	वाग्भाग
Passive Voice	कर्मवाच्य
Past	भूत
Paucal Number	अल्पवचन
Peak	शिखर
Perfective Aspect	पूर्ण पक्ष
Peripheral Subsystem	बाह्य उपव्यवस्था
Person	पुरुष
First	उत्तम
Second	मध्यम
Third	अन्य
Pharyngeal	ग्रसनीय
Pharyngealized	ग्रसनीकृत
Pharyngealization	ग्रसनीकरण
Pharynx	ग्रसनी
Phone	स्वन
Phoneme	स्वनिम
Phonemic	स्वानिमिक
Phonemicization	स्वनिमन
Phonemician	स्वनिमज्ञ
Phonemics	स्वानिमी
Phonetic	स्वनिक

Phonetician	स्वनज्ञ
Phonetics	स्वानिकी
Phrase	वाक्यांश
Physical, Anthropology	शारीरिक नृविज्ञान
Physics	भौतिकी
Physiological	शरीरवैज्ञानिक
Physiology	शरीरविज्ञान
Pitch	सुर
(1) High	उच्च
Low	नीच
Level	सम
(2) Rising	आरोही
Falling	अवरोही
Rising-falling	आरोहावरोही
Pitch Level	सुर-स्तर
Place of Articulation	स्थान, उच्चारण-स्थान
Plural Number	बहुवचन
Pooh Pooh Theory	आवेगीवाद
Postposition	परसर्ग
Predicate	विधेय
Prefix	पूर्वप्रत्यय
Present	वर्तमान
Progressive Assimilation	पररूपण
Prominence	उत्कर्ष
Prominent	उत्कर्षी
Pronoun	सर्वनाम
Pure Vowel	मूल स्वर
Quality	लक्षण
Reaction	प्रतिक्रिया
Reconstruction	पुनर्रचना
Reference	सूचन
*Referend	सूचक
Referent	सूच्य

Regressive Assimilation	पूर्वरूपण
Release	उन्मोच
Retroflex	मूर्धन्य
Rising	आरोही
Rising Terminal Contour	आरोही अन्त्यर
Rising-falling	आरोहावरोही
Rolled	लुठित
Rolling	लुंठन
Root	धातु
Root of Tongue	जिह्वामूल
Rounded	गोलित
Rounding	गोलन
Script	लिपि
Second Person	मध्यमपुरुष
Secondary Cardinal Vowels	गौण मानस्वर
Segmental	खंडीय
Selective Category	चयनात्मक कोटि
Semantic	सीमान्तिक
Semantics	सीमान्तिकी
Semivowel	अर्धस्वर
Sentence	वाक्य
Sequence	अनुक्रम
Short	ह्रस्व
Simultaneous	समकालिक
Singular Number	एकवचन
Sociology	समाजविज्ञान
Sonority	मुखरता
Sound	ध्वनि
Sound Attribute	ध्वनिगुण
Spelling	वर्तनी
Spectogram	दृश्यलेख
Spectograph	दृश्यग्राह
Speech Tract	वाग्यंत्र

Spirant	संघर्षी
Stem	प्रातिपदिक
Stimulus	स्फुरण
Stop	स्पर्श
Stress	बल
Stressed	बली
Structuralist	आकृतिवादी
Subject	उद्देश्य
Subsystem	उपव्यवस्था
Central	केन्द्रीय
Peripheral	बाह्य
Suffix	परप्रत्यय
Suprasegmental	खंडेतर
Sustained Terminal Contour	सम अन्त्यर
Syllabic	वार्णिक
Syllable	वर्ण
Open	मुक्त
Close	बद्ध
Syllable Nucleus	वर्ण-न्यष्टि
Symbol	प्रतीक
Synchronic	सांकालिक
Synchronic Linguistics	सांकालिक भाषिकी
Syntactical Linkage	वाक्य-शृंखलता
Syntax	वाक्यविज्ञान
System	व्यवस्था
Tap	लघ्वाघात
Teeth	दन्त
Teeth Ridge	बर्स्व
Tense	काल
Terminal Contour	अन्त्यर
Rising	आरोही
Fading	अवरोही
Sustained	सम

Third Person	अन्यपुरुष
Tip of Tongue	जिह्वानोक
Tone	तान
Transfer Grammar	एकान्तरण व्याकरण
Trial Number	त्रिवचन
Triangle of Reference	सूचन का त्रिकोण
Typology	प्रकारविज्ञान
Unaspirated	अल्पप्राण
Unrounded	अगोलित
Unrounding	अगोलन
Unstressed	निर्बल
Utterance	उच्चार
Uvula	अलिजिह्व
Uvular	अलिजिह्वीय
Valley	गह्वर
Variant	विभेद
Variation	विभेद
Velar	उत्कठ्य
Velic	नासाद्वार
Velum	उत्कठ
Verb	क्रिया
Vocal Cords	स्वरतंत्रियाँ
Vocal Symbol	वाक्प्रतीक
Vocative	सबोधन
Voice	घोष
Voice	वाच्य
Active	कर्तृवाच्य
Passive	कर्मवाच्य
Voiced	सघोष
Voiceless	अघोष
Vowel	स्वर
(1) Close	सवृत
Half Close	अर्धसंवृत

Half Open	अर्धविवृत
Open	विवृत
(2) Front	अग्र
Central	केन्द्रीय
Back	पश्च
(3) Rounded	गोलित
Unrounded	अगोलित
(4) Monophthong	मूल स्वर
Diphthong	द्विस्वर
(5) Consonantal	व्यंजनात्मक
(6) Neutral	उदासीन
(7) Nasalized	सानुनासिक
Non-nasalized, Oral	निरनुनासिक
Vowel Limit	स्वर-सीमा
Vowel Triangle	स्वर-चतुष्कोण
Whisper	जपन
Word	शब्द
Yo-he-ho Theory	श्रमपरिहरणमूलकतावाद



परिशिष्ट

१. भाषा क्या है ?

'काव्यादर्श' में कहा है—'वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ।' सत्य भी है, आज यदि मानव-समाज के बीच से 'भाषा' उठ जाय तो हमारी क्या स्थिति होगी—इसकी कल्पना भी नही की जा सकती । यह 'भाषा' क्या है, इस प्रश्न का उत्तर सहज नहीं है ।§

१. गुरु की डाँट खाकर भी रमेश कुछ नही बोला किन्तु उसकी निर्दोषता उसकी मूक 'भाषा' से ही सिद्ध हो रही थी । २. मेरे नयनों की 'भाषा' तुम पढ़ ही लोगे, इसलिए तुम्हारे तीर मौन हो जाता हूँ । ३. विहंगो की 'भाषा' में छिपा, न जाने किस निरुपम का भेद ।

उपर्युक्त उद्धरणो मे मूक भाषा का उल्लेख हुआ है, नयनो की भाषा की भी चर्चा हुई है । यही नही, पशु-पक्षियो में भी भाषा का व्यवहार होता है । कवियों ने निर्जीव पदार्थों की भाषा भी सुनी है, किन्तु सामान्य-जन की गति वहाँ तक नही है । इस रूप मे 'भाषा' मानव-समाज की ही नही, अपितु प्राणिमात्र की सम्पत्ति है । यहाँ 'एक प्राणी अपने किसी अवयव द्वारा दूसरे प्राणी पर जो कुछ व्यक्त कर देता है—वही विस्तृत अर्थ मे भाषा है ।'†

'भाषा' शब्द 'भाष्' से बना है और इसीलिए भाषणावयवो से उसका सीधा सम्बन्ध है । 'वाक्' और 'वाणी' भाषा के पुराने पर्याय है; 'काव्यादर्श' के उपरिलिखित उद्धरण मे भी 'वाचामेव प्रसादेन' कहा है । लैटिन का 'लिंगुआ', ग्रीक का 'लेइखेइन', अँगरेजी का 'टग', फ्रेंच का 'लाग', 'लांगाज', फारसी का 'जबान' भाषा के अर्थ मे प्रयुक्त शब्द है, किन्तु इनके मूल मे एक वागग 'जिह्वा' ही है । अँगरेजी का 'स्पीच,' जर्मन 'श्प्राखे' और अरबी 'लिस्सान' प्राय: 'भाषा' के समानार्थी है । इस कारण हम अन्य अवयवो के सकेतो को त्यागकर भाषा मे वागगो द्वारा उच्चरित ध्वनि-सकेतो को ही लेते है ।

---

§Some people... ... have decided notions about language. But the ideas held and discussed come far short of giving a complete picture of the language.

—H. A. Gleason, An Introduction to Descriptive Linguistics, P. 1.

†डॉ० बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० १ ।

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए। लिखित भाषा मुख्य रूप से भाषा नहीं है, उसकी सत्ता गौण है। उच्चरित भाषा की सहायता के लिए हम लेखन-कला का सहारा लेते है, किन्तु भाषा का वास्तविक अस्तित्व उच्चारण और भाषण में ही है। यह अवश्य है कि लिखित भाषा का क्षेत्र उच्चरित भाषा की अपेक्षा विस्तृत है। हम अपनी परवर्ती पीढ़ियों तक या दूरवर्त्ती प्रियजनों तक अपनी बात पहुँचाने के लिए लेखबद्ध भाषा का ही अवलम्बन लेते हैं; जबकि उच्चरित भाषा में वक्ता और श्रोता में समकालत्व और समदेशत्व की अपेक्षा होती है। लिखित भाषा से विज्ञान को बहुत लाभ पहुँचा है। अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों की उपलब्धियों को हम उसके माध्यम से सहज ही प्राप्त कर लेते हैं और उनसे आगे बढ़ते हैं। लिखित भाषा के कारण हम बड़ी और उलझी समस्याओं को भी समझ सकते हैं तथा उन्हें सुलझाने की चेष्टा कर सकते हैं। उच्चरित भाषा में जटिल समस्याओं को स्मरण रखना पड़ता, जिससे बड़ी कठिनाई होती और कभी-कभी तो यह असम्भव ही हो जाता। साथ ही, लिखित भाषा की अपनी सीमाएँ भी हैं। उसे मुखराग और इंगित का सहयोग नही प्राप्त होता, अतएव अर्थव्यंजकता में वह उतनी समर्थ नहीं होती। स्पर्शग्राह्य (अन्धोंकी) भाषा इस नेत्रग्राह्य (लिखित) भाषा की अपेक्षा और भी गौण है। कोड (गुप्त) भाषाएँ, स्काउटों के चिह्न आदि, बच्चों की उलटे वर्णों की भाषाएँ भी गौण है।

जब मुँह से उच्चरित ध्वनियों को हम 'भाषा' के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं तो पशु-पक्षियो की बोलियाँ भी उसमे आ जाती है। किन्तु वे ध्वनियाँ विश्लेषण-सह्य नही हैं और इतनी व्यापक भी नहीं हैं कि समस्त भावों, विचारों या इच्छाओं को सदा सफल रूप में प्रकट कर सकें। अतएव भाषिकी के लिए ये स्वीकार्य नहीं हैं। भाषिकी केवल मनुष्य की भाषा का अनुशीलन करती है। मनुष्य की समस्त ध्वनियाँ भी भाषिकी के क्षेत्र में नहीं आतीं। अट्टहास और रोदन, ट्—ट्—ट्····प्रेरणात्मक या च्—च्—च्·······करुणासूचक ध्वनियाँ भाषिकी में त्याज्य हैं क्योंकि एक तो ये विश्लेषण-सह्य नहीं हैं, दूसरे इसी उच्चारण को लेकर वे भाषा के शब्द-भाण्डार को भरने में भी सहायता नहीं पहुँचातीं। यदि किसी भाषा में ये ध्वनियाँ शब्द बनाने में समर्थ हैं तो वह भाषा उनका वैज्ञानिक अध्ययन करेगी। अफ्रीका की अनेक भाषाओं में इनसे मिलती-जुलती क्लिक, इम्प्लोसिव और इजेक्टिव ध्वनियाँ पाई जाती हैं।§

"जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है उनकी

---

§Almost any sort of noise that the human vocal apparatus can produce is used in some way in some language.

—H. A. Gleason, An Introduction to Descriptive linguistics, P. 2.

समष्टि को भाषा कहते हैं। भाषा के इस लक्षण में विचार के अन्तर्गत भाव और इच्छा भी हैं।"§ इस परिभाषा को और स्पष्ट करें तो "भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किये गये वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।"† अथवा "मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त-संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।"‡ ये व्यक्त ध्वनि-संकेत सार्थक तो होते ही हैं, विभिन्न अर्थों के द्योतन के लिए उनका संयोजन विभिन्न रूपों में किया जाता है। इन ध्वनि-समूहों के अर्थपरक उपयोग से परिचित होना ही किसी भाषा को सीख लेना है।*

विचारों, भावों और इच्छाओं को प्रकट करने के माध्यम के रूप में भाषा की सत्ता सर्वसम्मत है। एक विद्वान् ने यह मत दिया था कि भाषा विचारों को प्रकट करने का नहीं, उन्हें छिपाने का साधन है। किन्तु यदि हम तनिक भी विचार कर देखें तो यह सर्वथा स्पष्ट हो जाएगा कि इस उक्ति में जितना चमत्कार है, उतनी किसी नये सत्य की उद्‌भावना नहीं। कोई व्यक्ति बड़े बेमौके आ धमकता है। हम उसे टालना चाहते हैं, उससे मिलना नहीं चाहते; किन्तु शिष्टता की रक्षा के लिए कहना ही पड़ता है,—"आइए, विराजिए!" उपर्युक्त विद्वान् के अनुसार यह अपने विचार को छिपाना हुआ। किन्तु यह क्रिया क्या भाषा ने स्वेच्छा से की? हमारे मन में भाव आया कि यह व्यक्ति न आता तो अच्छा था, किन्तु शिष्टतावश स्वागत तो करना ही चाहिए। यहाँ दूसरा मनोभाव पहले को व्यर्थ कर देता है। दूसरे प्रमुख मनोभाव की सहायता भाषा करती है। कभी हमारा मन करे कि हम कुछ अंट-संट बकें। मान लिया भाषा हमारा मन रख लेती है और हमारी इच्छा के अनुरूप निरर्थक वाक्य-समूह प्रस्तुत करने लगती है। तो क्या हम यह कहने लगेंगे कि भाषा न मनोभावों को व्यक्त करती है, न छिपाती है; वह तो असंबद्ध, अप्रासंगिक और व्यर्थ ध्वनि-समूहों का अनाप-शनाप उच्चारण करती है! भाषा हमारी इच्छाओं की अनुगामिनी है। उपर्युक्त उदाहरण में यदि हम यह नहीं कहते कि 'जाइए, मैं अभी आपसे नहीं मिलूँगा!' तो यह भाषा का दोष नहीं, दोष हमारी सुजनता या सभ्यता का है। हमारा

---

§डॉ० बाबूराम सक्सेना, 'सामान्य भाषाविज्ञान,' पृ० ६।

†डॉ० मगलदेव शास्त्री, 'भाषाविज्ञान', पृ० १७।

‡डॉ० श्यामसुन्दरदास, 'भाषाविज्ञान', पृ० २० तथा भाषा-रहस्य भाग १, पृ० ४४।

*In human speech, different sounds have different meanings. To study this co-ordination of certain sounds with certain meanings is to study language. —Bloomfield, Language, p. 27.

विचार, भाव या इच्छा यही कहने की हो तो भाषा इसे भी व्यक्त कर सकती है।

मनुष्य द्वारा उच्चरित व्यक्त शब्दसमूहों से निर्मित 'भाषा' का अर्थ भी एक नहीं है, उसके कई अर्थ लिये जाते हैं। निम्नलिखित उदाहरण देखिए :—

१. 'मनुष्य की भाषा सभी पशु-पक्षी थोड़े अंशों में भी समझ सकें यह सम्भव नहीं।' यहाँ भाषा से तात्पर्य मनुष्य-मात्र की भाषा से है, वह चाहे हिन्दी, अँगरेजी, फ्रेंच कुछ भी हो।

२. 'हमारी भाषा हिन्दी है।' इस वाक्य में भाषा से तात्पर्य किसी विस्तृत भूखंड, जाति या देश में बोली जाने वाली भाषा से है। ऐसी भाषा के लिए ही प्रायः 'भाषा' (Language) शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु कोई विशेषण लगाने से दूसरा अर्थ भी द्योतित हो सकता है। इसे राष्ट्रभाषा या टकसाली भाषा (Koine) भी कहा जाता है।

३. 'आप अवधी भाषा के प्रसिद्ध कवि हैं।' इस उद्धरण में उपर्युक्त भाषा (विस्तृत भूखण्ड की) के भेद के रूप में 'भाषा' शब्द का प्रयोग हुआ है। हम ऐसी भाषाओं को उपभाषाएँ (Sub-languages)§ कह सकते हैं। कुछ लोग इन्हें 'प्रान्तीय भाषाएँ' कहते हैं। एक भाषा में प्रायः अनेक उपभाषाएँ होती हैं। 'भाषा' का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वह कई उपभाषाओं के क्षेत्र में व्यवहृत शिष्ट परिगृहीत भाषा ही होती है। भाषा और उपभाषा का भेद साहित्य के भाव या अभाव से नहीं होता; इस भेद के मूल में प्रायः प्रान्तीयता रहती है। गुजराती और राजस्थानी एक भाषा की उपभाषाएं-जैसी हैं, पर इन्हें भाषाएं माना जाता है। साहित्य से भरपूर अवधी और ब्रज उपभाषाएँ हैं।

४. 'मैं अवधी तो समझता हूँ किन्तु तुम्हारी बैसवाड़ी भाषा मेरे लिए भी कुछ-कुछ कठिन है।' यहाँ 'भाषा' शब्द 'उपभाषा' के विभागों अर्थात् 'बोलियों' के लिए प्रयुक्त हुआ है। वैज्ञानिक विवेचन में इसके लिए 'बोली' (Dialect) शब्द का प्रयोग समीचीन है।

५. एक ही स्थान के निवासियों की भाषा में भी भेद हो सकता है। इस भेद का कारण धर्म, जाति, व्यवसाय आदि की विभिन्नता है। स्त्रियों, ब्राह्मणों, कायस्थों, मुसलमानों तथा शूद्रों में ये विभेद पाये जाते हैं। इन विभेदों के बावजूद सारी भाषा को

---

§इसके लिए 'विभाषा' शब्द का प्रयोग न किया जाय तो अच्छा है, क्योंकि अधिकतर 'वि' उपसर्ग का प्रयोग (१) विलोम के लिए या (२) कुछ अधिकता या विशेषता दिखाने के लिए होता है। जैसे—(१) देशी-विदेशी, माता-विमाता, देश-विदेश, राग-विराग और (२) द्रोह-विद्रोह, लीन-विलीन, भाग-विभाग।

को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती, किन्तु कभी-कभी इनमें उच्चारण, शब्द-भाण्डार और व्याकरण में भी पर्याप्त पार्थक्य होता है। साँसिया, हबूड़ा, कंजड़ आदि जातियों में यह बोलियों का भेद बहुत पाया जाता है। इन विभागों के लिए भी लोग 'भाषा' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'अहीरों की भाषा', 'कायस्थों की भाषा' आदि वाक्यांश प्रचलित ही हैं। इनमें परस्पर अत्यन्त स्वल्प अन्तर होता है, अतः वैज्ञानिक विवेचन में इनके पृथक् नामकरण की आवश्यकता नहीं। §कुछ लोग इन्हें 'स्थानीय भाषाएँ' (Patois) कहते हैं। एक-एक उपभाषा में अनेक स्थानीय भाषाएँ होती हैं।

६. प्रत्येक व्यक्ति की उच्चरित भाषा को कभी-कभी उसकी निजी 'भाषा' के रूप में देखा जा सकता है। इसे 'अनुली' (Idiolect) कहा जाता है। किसी एक भाषा के बोलने वाले सभी व्यक्तियों की उस भाषा में समान गति नहीं होती। एक शब्द के अनेक पर्याय होते हैं, पर हम उनमें से कुछ का ही प्रयोग करते हैं, दूसरे लोग अन्य कुछ का। इस प्रकार प्रत्येक की भाषा अलग-अलग होती है। हम किसी व्यक्ति की रचना सुनकर अनायास कह उठते हैं—"यह तो भाषा ही बोल रही है कि यह रचना अमुक व्यक्ति की है।"

एक व्यक्ति की भाषा को ही लें तो वह जीवन भर एक ही भाषा नहीं बोलता। काल-गति से कुछ शब्द उसके स्मृति-पटल पर धूमिल होते जाते हैं और कुछ नये शब्द उभरते आते हैं। युवावस्था में जो शब्दावली हमारे प्रयोग में आती है, उसका एक अंश वृद्धावस्था तक पहुँचते-पहुँचते हमारे प्रयोग-क्षेत्र से बाहर चला जाता है।

एक ही समय में भी कोई व्यक्ति एक भाषा नहीं बोलता। जिन व्यक्तियों से हम बात करते हैं, उनके पद, सम्मान, आयु और योग्यता के अनुसार हमारी भाषा एक ही दिन विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। एक ही बात यदि हम अपने अधिकारी और भृत्य से कहें, अपने किसी श्रद्धा-पात्र विद्वान् और किसी अज्ञानी से कहें, किसी वयोवृद्ध और बालक से कहें, किसी सुशिक्षित और अपढ़ से कहें तो हमारी भाषा के परिवर्त्तन मुखर हो उठेंगे।

वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो जो भाषा हमारे मुख से एक बार निकल जाती है, वह दुबारा उसी रूप में नहीं निकल सकती। उसमें उच्चारण का भेद होगा। जिन मनोभावों का प्रतिफलन हमारी उस भाषा में हुआ था वे अपनी तीव्रता भी खो चुकेंगे। इस रूप में भाषा का परिवर्त्तन प्रतिक्षण होता चलता है और इतनी क्षिप्र गति से किन्तु अस्पष्टता से होता चलता है कि हम उसे समझ नहीं पाते। हम भाषा के उसी रूप का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं जो कुछ व्यवस्थाओं के द्वारा किसी निश्चित कालावधि में एक जनसमुदाय में समान रूप से उपलब्ध हो।

§डॉ० मंगलदेव शास्त्री इसे 'बोली' या 'परिभाषा' कहते हैं।

७. कभी-कभी साहित्यिक या सुसंस्कृत भाषा के लिए ही हम 'भाषा' शब्द का प्रयोग करते हैं, अन्य भाषाओं को बोली कह देते हैं; किन्तु यह सामान्य व्यवहार की बात है। 'संस्कृत भाषा', 'वैदिक भाषा'-जैसे शब्द इसके उदाहरण हैं।

यह साहित्यिक भाषा पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की भाषा होती है। थोड़ा-सा शिक्षित समुदाय ही इसका व्यवहार लिखने-पढ़ने में करता है, बोलने में वह भी नहीं। ऊपर दूसरे और तीसरे नम्बर पर जिन भाषाओं की चर्चा हुई है उनसे इसका अन्तर तभी मान्य होगा जब उपर्युक्त भाषाएँ सीधे बोल-चाल से आई हों और हमारी यह साहित्यिक भाषा बहुत कुछ कृत्रिम हो। ऊपर हमने "वैदिक भाषा' तथा 'संस्कृत भाषा' की चर्चा की है। सम्भव है ये भाषाएँ किसी समय पूर्णत: किसी रूप में सामान्य बोलचाल की भाषाएँ रही हों; किन्तु कुछ पंडितों में अब भी संस्कृत साहित्यिक भाषा है।

साहित्यिक भाषा का जीवित स्वरूप भी तत्कालीन व्यावहारिक भाषा से कुछ-न-कुछ भिन्न होता है। इसलिए भाषा के स्वरूप को भविष्य के लिए बहुत-कुछ अंशों में सुरक्षित रखने का श्रेय भले इस भाषा को मिले, भाषिकी में इसका विशेष उपयोग नहीं है। सर्वसाधारण की भाषा से इसकी तुलना करने पर पता चलता है कि साहित्यिक भाषा (क) कृत्रिम होती है तथा (ख) अपेक्षाकृत स्थिर होती है।

साहित्यिक भाषा का आरम्भ सर्वसाधारण की किसी भाषा से होता है, जिसे किसी (प्राय: धार्मिक या राजनैतिक) कारणवश प्रमुखता मिल जाती है और वह राज-भाषा या धार्मिक भाषा बन जाती है। विभिन्न स्थलों के निवासी इसके माध्यम से सरलतापूर्वक विचार-विमर्श कर सकते हैं। इसका पद जनभाषा से ऊँचा होता है।

८. विश्वभाषा बनाने के दृष्टिकोण से निर्मित एस्पिरैंतो (Esperanto) आदि कृत्रिम भाषाओं के लिए भी 'भाषा' शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु अव्यवहृत होने के कारण इनका विवेचन नहीं करना पड़ता।

९. संस्कृत ग्रन्थों के टीकाकारों ने तत्कालीन बोलचाल की भाषा के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग (इति 'भाषायाम्') किया है। यह भाषा दूसरे और तीसरे नम्बर पर उल्लिखित भाषाओं के अन्तर्गत आ जाती है।

जैसा कि स्पष्ट हो गया होगा, इन उदाहरणों में से कुछ स्थलों पर 'भाषा' शब्द का जो प्रयोग दिखलाया गया है, वह केवल सामान्य व्यवहार का है। किन्तु भाषिकी में 'भाषा' शब्द के कई अर्थों मे प्रयुक्त होने के कारण उसका स्पष्ट अर्थ समझ लेना आवश्यक होता है।§

---

§ब्लूमफ़ील्ड ने भाषा के ५ प्रकार माने हैं—1. literary standard, 2. colloquial standard, 3. provincial standard, 4. sub-standard, 5. local dialect. —Language, P. 52.

हम कह चुके हैं कि इंगित आदि क्रियाएँ 'भाषा' के अन्तर्गत नहीं आतीं, यद्यपि कहीं-कहीं इनका बहुत विकास हुआ है। अमरीका की जंगली जातियों में पूरी-की-पूरी सांकेतिक भाषाएँ उपलब्ध है। कहा जाता है कि उत्तरी अफ्रीका की ग्रेबो जाति की भाषा मे क्रियाओं के काल और पुरुष को केवल हाथो की चेष्टा से प्रकट किया जाता है।[१] इंगित, मुख-विकृति और अन्य संकेत भाषा में स्थान न पाने पर भी भाषा के स्वरूप को स्थिर तथा पुष्ट करते हैं।

भाषा का उपयोग :—१. यदि एक व्यक्ति को किसी वस्तु की आवश्यकता हो, किन्तु किसी कारणवश उसे स्वयं ला सकने का सामर्थ्य उस व्यक्ति में न हो तो वह भाषा के माध्यम से दूसरे व्यक्ति की सहायता ले सकता है। इस प्रकार एक व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति दूसरा कर देता है। यदि भाषा न हो तो मनुष्य पशुवत् हो जाय, कम-से-कम इस अर्थ में कि वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्वय प्रयत्न करे और सफल होने पर सन्तोष का अनुभव कर ले या असफल होने पर मन मसोस-कर रह जाय।§ भाषा के कारण यह सम्भव है कि आवश्यकता का अनुभव एक व्यक्ति करे किन्तु उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील दूसरा व्यक्ति हो ; अर्थात् स्फुरण एक व्यक्ति में हो, किन्तु प्रतिक्रिया दूसरे मे। इसे यों भी कह सकते है कि भाषा के द्वारा वक्ता श्रोता को प्रभावित करता है अथवा किन्ही विशेष वस्तुओं या बातों की ओर उसका ध्यान आकर्षित करता है।

२. उपर्युक्त विशेषता से ही एक दूसरी बात का जन्म होता है—जो व्यक्ति जिस कार्य में दक्ष हो, वह सभी व्यक्तियों के लिए उस कार्य का सम्पादन कर दे। दूसरा व्यक्ति अपने सामर्थ्य के अनुसार दूसरे कार्य का सम्पादन सबके लिए कर दे। इस प्रकार भाषा कार्य-विभाजन करती है और कार्य-विभाजन की इसी प्रक्रिया पर आज का समाज टिका हुआ है।

३. एक व्यक्ति को प्रेरणा या स्फुरण होता है, किन्तु इस स्फुरण के प्रति

---

§ब्लूमफ़ील्ड के उदाहरण में यह सन्देह उठ सकता है कि जिल को भाषा नहीं आती तो वह सेब की ओर संकेत कर दे जिससे जैक उसका मन्तव्य समझ जाए। इस सन्देह के दो समाधान हैं :—

१. 'भाषा' का व्यापक अर्थ लेने पर ये संकेत भी 'भाषा' के अन्तर्गत आ जाते हैं।

२. 'भाषा' शब्द का वैज्ञानिक अर्थ ही ग्रहण करें तो भी यह स्पष्ट है कि इंगित या संकेत उच्चरित शब्दों के सामर्थ्य को नहीं पा सकते। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को प्रकट करने की उतनी क्षमता उनमें नहीं आ सकती। उदाहरणार्थ, वही सेब यदि अन्यत्र और अदृष्ट होता, यह घटना रात की होती या जैक दूर होता तो जिल अपने मन्तव्य को इंगित से कैसे व्यक्त करती ?

वह व्यक्ति क्रियात्मक प्रतिक्रिया (practical reaction) प्रकट न करने के लिए स्वतंत्र है। वह चाहे तो केवल भाषणात्मक प्रतिक्रिया (speech reaction) व्यक्त कर दे। दूसरा व्यक्ति जिसे वास्तविक अथवा क्रियात्मक स्फुरण (practical stimulus) नहीं हुआ है, इस भाषणात्मक स्फुरण (speech stimulus) से प्रभावित होकर क्रियात्मक प्रतिक्रिया (practical reaction) प्रकट कर देगा। इस प्रकार वक्ता और श्रोता के दो भिन्न व्यक्तित्व एक हो जाएँगे। भाषा के माध्यम से दो चेता-मंडलों का पार्थक्य दूर हो जाता है।

४. इस प्रकार यह भाषणात्मक स्फुरण या भाषणात्मक प्रतिक्रिया अपने आप में महत्वपूर्ण न होते हुए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तुओं, कार्यों तथा बातों से सम्बन्ध रखती है। उसका अस्तित्व वायवी है किन्तु स्थूल तत्वों की स्थानापन्न होने के कारण भाषा का मूल्य बहुत बढ़ जाता है। आज के युग में 'बात' से कितने काम चलते हैं, कहने की आवश्यकता नहीं।

५. भाषा विचार प्रकट करने का साधन तो है ही, वह विचार करने का साधन भी है। भाषा का आश्रय लिए बिना हम किसी विषय पर विचार नहीं कर सकते। यदि हम विचार करते समय ऊपर से मौन दिखते हैं तो केवल इसलिए कि भाषा को भीतर-ही-भीतर प्रयुक्त करते हुए सोचने का अभ्यास हमें हो गया है। कभी-कभी हम सोचते कुछ और रहते है किन्तु बोलते कुछ और ही हैं। ऐसे समय वस्तुतः जो हम सोच रहे होते हैं उससे सम्बन्धित भाषा हमारे मस्तिष्क के भीतर होती है, प्रकट नही होती और विचारों से असम्बद्ध जो भाषा हम बोल रहे होते हैं, उसका कारण अभ्यास होता है। कहा जा सकता है कि भाषा विचार का बाह्य पक्ष है, अर्थात् विचार भाषा का आन्तरिक पक्ष है। विद्वानों के मतानुसार इन दोनों की मध्यस्थ एक विचार-प्रतिमा (या ध्वनि-प्रतिमा) होती है। विचार उठने के लिए यह आवश्यक है कि वह विचार और प्रतिमा मस्तिष्क में आ जाएँ, उच्चरित ध्वनियाँ चाहे आएँ या न आएँ।

६. भाषा के कारण हम अनेक अनावश्यक झंझटों से बच गये है। उदाहरणार्थ गिनती को लें। लाखों-करोड़ों का हिसाब हम एक छोटे-से कागज पर कर लेते है; कोई भूल हो जाय तो सुधार भी सकते हैं। यदि गिनती हमें न आती होती तो इतनी वस्तुओं को उठाना-हटाना कितना कठिन होता! यदि कोई भूल हो जाती, तब तो दीवाला ही पिट जाता। गिनतियाँ न होतीं तो गणित के सूत्र कोई स्वप्न में भी न सोच पाता।

भाषण की भूमिका :—जब हम कुछ बोलना चाहते हैं तो मुख, नासिका अथवा दोनों से बाहर निकलती हुई वायु पर हमारे वागंग कुछ प्रभाव डालते हैं, इस प्रकार भाषा का क्रम चलता है। यह प्रक्रिया सर्वथा वैज्ञानिक अथवा यान्त्रिक

है। किन्तु यह कह सकना बहुत कठिन है कि 'अ' कब बोलेगा; मौन तो नहीं रहेगा, बोलेगा तो क्या बोलेगा, उसके शब्द क्या होंगे। या इसी बात को दूसरे पक्ष में देखें तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि श्रोता उस बात का क्या उत्तर देगा, या जो उत्तर उसने दिया है, वही क्यों दिया, अन्य कोई उत्तर क्यों नहीं दिया। निश्चय ही भाषण-ध्वनियों को उनका रूप देने वाला अथवा उन्हें अवस्थित करने वाला हमारे अवयवों का कोई विशिष्ट गठन होगा और यह गठन हमारे अवयवों के इस विस्तृत तथा विशाल गठन का एक पक्ष मात्र होगा जो हमारे ऊपर पड़ने वाले बाह्य प्रभावों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है, वह प्रभाव चाहे भाषा का हो चाहे अन्य कुछ। अवयवों के इस विस्तृत गठन का अध्ययन शरीरविज्ञान में और विशेषकर मनोविज्ञान में होता है; और जिस सीमा तक उसका प्रभाव भाषा पर पड़ता है, उस सीमा तक उसका अध्ययन करनेवाले विषय को 'भाषा का मनोविज्ञान' (psychology of speech) अथवा 'भाषायी मनोविज्ञान' (linguistic psychology) कह सकते हैं।

हमारे अवयवों का यह गठन इतना पेचीदा है कि कब कौन क्या बोलेगा—कहा नहीं जा सकता। एक ही परिस्थिति में विभिन्न लोग विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ प्रकट करते हैं—कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। मनःवाद (mentalistic theory) के अनुसार भाषण की यह विविधता जिस तत्व द्वारा प्रेरित और नियंत्रित है वह सर्वथा अभौतिक (nonphysical factor) है तथा प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है। इस तत्व को हम आत्मा, मन या बुद्धि (spirit or will or mind) कह सकते हैं। यह तत्व चूँकि भौतिक जगत की कार्य-कारण-परम्परा का अनुशासन नहीं मानता, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी प्रतिक्रिया की पद्धति क्या है, अथवा कोई पद्धति है भी कि नहीं। इसी कारण भाषण की यह विविधता पाई जाती है और हम उसके सम्बन्ध में पहले से कुछ कह भी नहीं सकते।

मनःवाद बहुत पुराना है और आज भी इसकी लोकप्रियता कम नहीं है। वैज्ञानिक रूप से भी यह अस्वीकृत नहीं है।

वस्तुवाद अथवा यन्त्रवाद (materialistic or, better, mechanistic theory) इस सूक्ष्म तत्व वाले सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार मनुष्य का आचरण जिसमें भाषण भी सम्मिलित है, इतना विविध इसलिए है कि मनुष्य का शरीर-यन्त्र अत्यन्त पेचीदा है। थोड़ा-सा परिवर्तन होते ही उसकी प्रतिक्रिया नितान्त भिन्न हो सकती है। यद्यपि इस शरीर-यन्त्र पर भी कार्य-कारण-परम्परा का शासन है, किन्तु उसका अध्ययन बहुत कठिन है। जिस समय मनुष्य को कोई स्फुरण या प्रेरणा होती है, उस समय यदि उसके शरीर-यन्त्र की स्थिति का

अध्ययन और विश्लेषण किया जा सके तो यह कहना कठिन नहीं है कि प्रतिक्रया के रूप में भाषा उच्चरित होगी या नहीं और यदि होगी तो उसके शब्द क्या होंगे। यदि हमने किसी व्यक्ति के शरीर-यन्त्र का अध्ययन और विश्लेपण पहले से कर रखा है, उसमें क्रमश: और निरन्तर होते रहने वाले परिवर्तनों का ज्ञान हमें है तथा प्रत्येक स्फुरण के प्रति व्यक्त होने वाली उसकी प्रतिक्रिया से भी हम परिचित हो चुके हैं तो भी हम उसके सम्बन्ध में कोई भविष्यवाणी कर सकने की स्थिति में हो सकते हैं।

हमारे भाषण में यह वैविध्य प्रस्तुत करने वाला भाग हमारा चेतामंडल है। यह यन्त्र पेचीदा तो है ही, स्थिर भी नहीं है। इसमे निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं। कोई परिवर्तन अस्थायी और अल्पकालीन होता है तो कोई स्थायी और दीर्घ-कालीन। किसी स्फुरण के प्रति हमारी प्रतिक्रिया का पूर्वज्ञान हमारी उन प्रतिक्रियाओं के द्वारा कुछ-न-कुछ किया जा सकता है जो हमने वैसे ही स्फुरणों के प्रति पहले व्यक्त की हैं। एक मजेदार बात यह है कि इस यन्त्र में जिस अंग को स्फुरण होता है, उसी को प्रतिक्रिया व्यक्त करनी पड़े—यह आवश्यक नही। सम्भव है, स्फुरण आँख को हो और प्रतिक्रिया व्यक्त करें हमारे हाथ या वागंग।

किसी के चेता-मंडल का अन्वेषण हम बाहर से नही कर सकते। अन्तर्मुखी दृष्टि से अपने चेता-मडल के सम्बन्ध मे भी कुछ नही कहा जा सकता क्योंकि हमारे पास ऐसा संवेदनशील अंग नहीं है जो उसकी गतिविधि को निरख-परख सके। मनोविज्ञान के विद्वान अनेक व्यक्तियों को एक ही स्फुरण से प्रभावित कर उसकी प्रति-क्रियाएँ देखते हैं तथा ऐसे ही अन्य प्रयोग करते हैं।

जो स्फुरण हमें होता है, उसके प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाली कुछ अन्य क्रियाएँ भी हैं, जैसे—हाथ से तिनका तोड़ना, नाखून से मिट्टी कुरेदना, इंगित, मुखराग, मुखविकार। इनमें से कई क्रियाएँ हमारी भाषा के साथ-साथ होती रहती है।

भाषा का स्वरूप :—कभी-कभी कुछ तार्किक भाषा का महत्व इतना बढ़ा देते हैं कि लगता है, भाषा अपने आप में साधन और साध्य दोनों ही हो गई। वे एक-एक शब्द पर इतना बल देते हैं मानो शब्द का उच्चारण या श्रवण ही पर्याप्त है, उसका अभिप्राय महत्वपूर्ण नहीं। दूसरी ओर कुछ भावुक हैं जो भाषा को आत्माभि-व्यक्ति का साधन तो मानते हैं किन्तु उसे इतना गौण और हीन स्थान देते हैं जैसे उसके बिना सभी कार्य यथावत् चल सकते हों। ये दोनों पक्ष अतिवाद के उदाहरण हैं, भाषा इन दोनों पक्षों के बीच में है।

भाषा अपने आप में साध्य हो जाय तो अंड-बंड बकने वालों को पागलखाने की हवा न खानी पड़े। दूसरे पक्षवालों की भाषा यदि अर्थ वहन करना छोड़ दे तो उनकी आत्माभिव्यक्ति का वाहक कौन होगा, भगवान जाने। वस्तुतः भाषा एक समाज-सापेक्ष वस्तु है और समाज ही यह निश्चय करता है कि किस शब्द का क्या मूल्य होगा।

ऊपर के विवेचन से पता चल जाता है कि भाषा के प्रमुख आधार दो हैं—एक तो भौतिक और दूसरा मानसिक। भौतिक आधार में ध्वनियाँ आती हैं। मनुष्य द्वारा उच्चरित प्रायः सभी ध्वनियाँ किसी-न-किसी भाषा में पाई जाती हैं। मानसिक आधार वह वस्तु या बात होती है जिसे हम भाषा के माध्यम से व्यक्त करना चाहते हैं। भाषिकी में इन्हें हम सुविधा के लिए क्रमशः कथन (expression) और कथ्य (content) की संज्ञा दे सकते हैं।

यदि हमारी भाषा को कोई विदेशी हमारे मुख से सुनता है तो जो कुछ उसने सुना है, उसे 'भाषा' तो कह ही नहीं सकते, 'कथन' भी वह पूर्ण नहीं है। उसने केवल ध्वनियाँ सुनी हैं—निरर्थक ध्वनियाँ। यही ध्वनि-प्रवाह भौतिकविज्ञानी (physicist) के लिए रेडियो, टेलीफोन आदि में सैद्धान्तिक रूप से और व्यावहारिक रूप से भी उपयोगी तथा महत्वपूर्ण हो सकता है। भाषिकी में भी वह कच्चे माल का काम दे सकता है।

'कथन' निरर्थक ध्वनियों का समूह नहीं है। इन ध्वनियों का भाषिकी में मूल्य है किन्तु तभी जब वे अर्थ-भेदक बनकर आएँ और यह स्पष्ट है कि भाषा से अपरिचित व्यक्ति इन्हें इस रूप में नहीं ग्रहण कर पाता।

दूसरा उदाहरण हम उस व्यक्ति का ले सकते हैं जिसने इस भाषा को जन्म से सीखा है और जिसके लिए यह भाषा साँस लेने या खाने-पीने-जैसी सहज स्वाभाविक वस्तु हो गई है। ऐसे व्यक्ति के लिए भी भाषा के 'कथन' पक्ष पर आवश्यक ध्यान देना सम्भव नहीं हो पाता। वह बात को सुनते-सुनते उसके अर्थ पर पहुँच जाता है और उसकी चेतना सम्पूर्णतः सूचनीय विषय पर केन्द्रित रहती है। यह 'सूचनीय' विषय भी भाषा से उतनी ही दूर है जितनी दूर उपर्युक्त ध्वनियाँ। इस दृष्टि से भाषा के इन दोनों आधारों का समुचित अध्ययन उसके लिए सुगम होगा जिसने सम्बन्धित भाषा को जन्म से न सीखा हो, किन्तु उससे अपरिचित भी न हो।

'कथन' ध्वनियों की एक व्यवस्थित पद्धति या ढाँचा है और 'कथन' के दृष्टि-विन्दु से यदि भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या की जाय तो उसे व्यक्त ध्वनियों अथवा ध्वनि-समूहों की क्रमबद्ध परम्परा कह सकते हैं। प्रत्येक भाषा में व्यक्त ध्वनियों और ध्वनि-समूहों के कुछ विशेष समवाय-सम्बन्ध होते हैं। पेचीदा होने के कारण इनका विश्लेषण सुगम नहीं है; किन्तु इनके सम्बन्ध में हम कुछ पूर्वकल्पना कर सकते हैं। इनकी व्यवस्था से सम्पृक्त होने पर हम इनके सम्बन्ध में अपनी धारणा बना सकते हैं, ऐसी कि तनिक भी अव्यवस्था होने पर हमें अनायास खटक जाए। इसी अर्थ में इन्हें 'क्रमबद्ध' कहा जा सकता है।

अब 'कथ्य' को लें। वक्ता जिस वस्तु या बात के सम्बन्ध में कुछ कहता है उसे

वह अर्थ-संगति के एक व्यवस्थित स्वरूप की शकल मे देखता है ।§ इस अर्थ-संगति के कुछ अंगो का वह चुनाव करता है जिन्हे अपनी भाषा के द्वारा उभारकर उसे सम्मुख लाना है । वह उन पद्धतियों का भी निश्चय करता है जिनके द्वारा इन अंगो को परस्पर सम्बन्ध करना होगा । सूचनीय वस्तु या बात के अर्थ-पक्ष को सम्बन्धित भाषा के स्वभाव के अनुकूल हम कुछ विशेष भागों मे विभाजित कर लेते है । इन विभागो को ही हमने ऊपर अंग कहा है । इन विभागो की भी क्रमबद्ध परम्पराएँ होती है, जिनका समवाय-सम्बन्ध भिन्न-भिन्न भाषाओं मे अलग होता है । इनका विश्लेषण भी सुगम नही है किन्तु सम्पृक्त होकर भी ये हमारे लिए उतनी ही परिचित हो जाती है और इनके सम्बन्ध मे भी उतने ही अंशो मे पूर्वकथन किया जा सकता है । इन्ही क्रमबद्ध परम्पराओ से 'कथ्य' का स्वरूप अवस्थित होता है ।

भाषा के ये दोनो आधार पृथक् नही है, इनमे परस्पर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु इस सम्बन्ध का विश्लेषण भी सुगम नही है । एक आधार दूसरे से कब कहाँ और कितना प्रभावित होता है, कहा नही जा सकता । किन्तु यह सम्बन्ध भी प्रत्येक भाषा मे अलग-अलग होता है । और सम्पर्क से इसके विषय मे भी धारणा बनाई जा सकती है । 'कथन' और 'कथ्य' इन दोनो आधारों का यह पारस्परिक सम्बन्ध भाषा-का एक तीसरा आधार बनाता है जिसे हम 'शब्दावली' कह सकते है ।

यह आधार शब्द और अर्थ के स्वीकृत पारस्परिक सम्बन्ध के रूप मे आता है । उपर्युक्त दो आधारो की अपेक्षा यह आधार अस्थिर होता है, इसमे निरन्तर परिवर्तन होते रहते है । कुछ शब्द तो बहुत शीघ्र परिवर्तित हो जाते है किन्तु जिन्हें अपेक्षाकृत स्थिर कहा जाता है उनके परिवर्तन की गति भी शिथिल नही समझनी चाहिए । समाज की अपेक्षा व्यक्ति के जीवन में शब्दों का जन्म-मरण बहुत क्षिप्र गति से होता है । व्यक्ति नये-नये शब्द सीखता जाता है और पुराने शब्द (यद्यपि उनके मिटने की गति अपेक्षाकृत कम होती है, नये शब्द सीखने की अधिक) भूलता जाता है। वस्तुत देखा जाय तो 'कथन' और 'कथ्य' इन दोनो आधारों को सीखना कठिन होता है, किन्तु इस तीसरे को सीखना अपेक्षाकृत बहुत सरल है ।

जिसने जिस भाषा को जन्मसे सीखा है, उसे उसमे कुछ भी पेचीदा नही लगता किन्तु नौसिखियों को वह कठिन, अनियमित और हास्यास्पद भी लग सकती है । यह सब सत्य है किन्तु इस सत्य का उद्घाटन पूर्णतः तब हो सकता है जब भाषा का परीक्षण वस्तुनिष्ठ (objective) दृष्टि से किया जाए ।

●

---

§हम कह आये है कि 'सूचनीय विषय' भाषा (जिसका एक आधार 'कथ्य' है) से और इसलिए 'कथ्य' से भिन्न है। जिस वस्तु या बात के सम्बन्ध में कुछ कहा जाता है, उसे हमने 'सूचनीय विषय' कहा है ; और उसी को अर्थ-संगति के एक व्यवस्थित स्वरूप की शकल में देखने पर 'कथ्य' ।

२. विचार, भाषा और अभ्यास

यह प्रश्न प्रायः उठाया जाता है कि भाषा के बिना विचार सम्भव है या नहीं। अधिकांश विद्वान् इस बात पर एकमत रहे हैं कि यह संभव नहीं है। इस मतैक्य के कारण भाषिकों में जो आत्म-विश्वास उत्पन्न हुआ है, उसका प्रतिफलन डॉ० बाबूराम सक्सेना के इन शब्दों में देखा जा सकता है जो चुनौती के-से लहजे में कहे गये लगते हैं :—"भाषा विचार करने का भी साधन है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यदि कोई भी विचार करने बैठें तो भाषा की मदद के बिना नहीं कर सकते। जिसको सन्देह हो, वह प्रयत्न करके देख ले।" वस्तुतः हमें यह बात सत्य लगती है। हमारा सबका अपना अनुभव भी यह बताता है कि यदि हम कोई विचार करते हैं तो वहाँ भाषा अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है।

इस बात को और स्पष्ट करने के लिए हम पहले भाषा का प्रमुख तथा सर्व-प्रथम उपयोग समझ लें। ब्लूमफ़ील्ड ने 'लैंग्वेज' नामक अपनी पुस्तक में जैक और जिल—दो व्यक्तियों का उदाहरण देकर इस पर बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला है। जैक और जिल कहीं जा रहे हैं। जिल वृक्ष पर लगा हुआ एक सेब देखती है। वह भूखी है और स्वभावतः उसे पाने के लिए लालायित हो उठती है।

अब उसके सामने एक मार्ग यह है कि वह स्वयं प्रयत्न करे, सेब तोड़ लाए और अपनी भूख मिटाए किन्तु यदि इसमें असफल रहे तो निराश होकर अपनी राह लगे। यह स्थिति सभी पशु-पक्षियों पर लागू होती है। सेब पाने की लालसा और आवश्यकता को यदि 'स्फुरण' कहें तथा उसे पाने की सक्रिय शारीरिक चेष्टाओं को 'प्रतिक्रिया' की संज्ञा दें तो हम इस घटना को इस रूप में दिखा सकते हैं :—

स्फुरण———→प्रतिक्रिया

अब हम इस घटना की दूसरी संभावना लेते हैं। मान लिया जैक से जिल के अच्छे संबंध हैं और वह सेब लाने में अपने आपको असमर्थ या अपेक्षाकृत कम चतुर समझती है या वृक्ष पर चढ़ने का कष्ट नहीं उठाना चाहती तो वह जैक से कहेगी और जैक उसके लिए सेब ला देगा।

इस घटना में जिल को 'स्फुरण' होता है; किन्तु 'प्रतिक्रिया' के सक्रिय रूप की शरण उसे नहीं लेनी पड़ती। उसके स्थान पर वह केवल अपने वागंगों को थोड़ा हिला-डुला देती है, कुछ शब्द कह देती है। यह एक 'स्थानापन्न प्रतिक्रिया' हुई, जिसे

हम 'भाषणात्मक प्रतिक्रिया' कह सकते हैं। इस 'भाषणात्मक प्रतिक्रिया' का प्रभाव जैक पर यह पड़ता है कि वह सेब पाने की सक्रिय चेष्टा करता है, जो उसे तब करनी चाहिए थी जब उसे 'स्फुरण' होता। 'प्रतिक्रिया' तो उसकी वास्तविक है, किन्तु 'स्फुरण' नहीं। 'स्फुरण' के स्थान पर केवल वे शब्द आते हैं जो 'भाषणात्मक प्रतिक्रिया' के रूप में जिल ने कहे हैं। जिल ने वे शब्द कहे तो उसकी 'भाषणात्मक प्रतिक्रिया' हुई और जैक ने उन्हे सुना तो वह उसके लिए 'भाषणात्मक स्फुरण' हुआ। इस घटना को यों दिखा सकते हैं :—

स्फुरण————→भाषणात्मक प्रतिक्रिया····(जिल)

भाषणात्मक स्फुरण————→प्रतिक्रिया········(जैक)

इस घटना के पहले वाले पहलू में भाषा का प्रवेश नहीं हुआ और दूसरे में भाषा आ गयी। भाषा के आने से यह संभव हुआ कि 'स्फुरण' एक व्यक्ति में हो और 'प्रतिक्रिया' दूसरे में। इसी क्रिया से समाज की प्रतिष्ठा संभव हुई है जिसमें एक विषय का अधिकारी अपने विषय का संपादन सबके लिए कर देता है और दूसरे का अधिकारी अपने विषय का। जो व्यक्ति जिस कार्य में दक्ष है वह वही कार्य सारे समाज के लिए कर देता है। यहाँ यह सन्देह न होना चाहिए कि उक्त उदाहरण में भाषा के बिना भी काम चल सकता था, जैसे कि जिल संकेत कर देती और जैक इतने से ही उसका आशय समझ जाता। हमें स्मरण रखना होगा कि यह उदाहरण केवल बात को स्पष्ट करने के लिए लिया गया है, अन्यथा आज के सभ्य जीवन में इतनी उलझी हुई बातें करनी होती हैं जिन्हें हम संकेतों से कभी व्यक्त नहीं कर सकते। उन सबकी प्रारंभिक स्थिति के रूप में ही इस उदाहरण को ग्रहण करना चाहिए। वैसे, भाषा के सम्मुख इंगितों में अन्य कितनी सीमाएँ हैं—हम सभी जानते हैं। व्यापक अर्थों में इंगित को भी हम भाषा के अन्तर्गत ले लेते हैं।

किन्तु क्या आज घटना के पहले वाले स्वरूप में भाषा का प्रवेश नहीं होता? जिल ने जब सेब देखा तो उसके मन में कुछ भाव उठे, कोई इच्छा जाग्रत हुई। वह भले ही कुछ न कहे किन्तु उसके मन में कई बातें घूम गयीं। वह प्रसन्न हो उठी कि बड़े अच्छे मौके पर एक सेब दिख गया। उसे चिन्ता हुई कि उसे वह सेब मिलेगा भी कि नहीं। सफल होने पर वह गद्‌गद् हो गयी या असफल होने पर अपने भाग्य को कोसने लगी। मौन रहने पर भी ये सारी क्रियाएँ हुईं और क्या इनमें भाषा साथ न थी? अथवा, उक्त घटना के दूसरे पहलू में जिल की 'भाषणात्मक प्रतिक्रिया' प्रत्यक्ष होने के पूर्व क्या उसके मन में कुछ बातें नहीं उठतीं और क्या उन बातों की पृष्ठभूमि में भाषा स्थित नहीं होती? वास्तविकता यह है कि आज हमारी कोई क्रिया बिना भाषा के नहीं हो पाती।

ब्लूमफ़ील्ड के साथ हम भी मान ले कि जैक और जिल उस स्थिति में हैं जब

उन्हें किसी भाषा का ज्ञान ही नहीं है अथवा यों कहें कि उन्हें पता नहीं है कि भाषा नाम की कोई वस्तु दुनियाँ में हो भी सकती है । हम कल्पना कर लेते हैं कि मानव-जीवन के इतिहास में सचमुच कोई समय ऐसा था । तब जैक और जिल पशुओं की कोटि में थे । जिल ने सेब देखा तो उसे निश्चय ही प्रसन्नता हुई होगी । उसे पाने के लिए वह व्यग्र भी हुई होगी । सफल होने पर हर्ष ने और असफल होने पर विषाद ने उसे घेर लिया होगा । ये सारी क्रियाएँ हुईं । कुछ भाव उठे, कोई इच्छा जाग्रत हुई किन्तु उन्हें भाषा तो आती न थी, तो उनके भावों और इच्छाओं का स्वरूप कैसे निर्मित हुआ होगा ?

आज भी पशु कोई खाने की वस्तु देखते हैं तो ये ही क्रियाएँ हमें उनमें मिलती हैं । क्या इसके लिए उन्हें भाषा की आवश्यकता पड़ती है ? निश्चय ही उनके पास ऐसी भाषा नही है जो इन भावों और इच्छाओं के साथ शब्द-शब्द संचरण करे। किन्तु एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या पशु विचार करते हैं, क्या उन्हें हर्ष-विषाद होता है, क्या उन्हें उत्कंठा और व्यग्रता होती है, क्या उन्हें पीड़ा होती है, क्या उन्हें किसी प्रकार की अनुभूति होती है ?

यहाँ यह सुविधाजनक होगा कि हम विचारों को भावनाओं, आवेगों और अनुभूतियों से अलग कर दें । पशु भी विचार कर सकते हैं—इसकी कल्पना नहीं की जा सकती । किन्तु सभी पशुओं में हम व्यग्रता देख सकते हैं, उत्कंठा देख सकते हैं, इस बात का भी अनुभव कर सकते हैं कि उन्हें पीड़ा हो रही है या अन्य कोई कष्ट है । कुछ पशुओं का हर्ष-विषाद भी हमसे छिपा नहीं रहता । ये आवेग, भाव और अनुभूतियाँ पशुओं में हमें मिलती हैं, उस समय के जैक और जिल में भी रही होंगी । लेकिन इन सबका संबंध पशुओं के मामले में केवल शरीर से है । भूख एक शारीरिक आवश्यकता का अंग है, जिसे शरीर अनुभव करेगा ही । पीड़ा तथा अन्य कष्ट भी हमें पशुओं में शारीरिक ही दिखते हैं । और हम यह मान लेते हैं कि अपनी प्रारंभिक अवस्था में जैक तथा जिल पशुओं के ही समकक्ष थे । ये क्रियाएँ उनमें भी पशुओं की भाँति आवश्यकता और अभ्यास से साध्य थीं ।

विचार का संबंध बुद्धि से होता है, शरीर से नहीं । सूक्ष्म कल्पनाएँ भी इसी कोटि में आती हैं । इन विचारों और सूक्ष्म कल्पनाओं का जन्म कैसे हुआ ? यहाँ यह जान लेना रोचक होगा कि कुछ लोगों का मत है—भाषा से विचार जन्मे (क्योंकि भाषा के बिना विचार संभव ही नहीं) तो कुछ लोगों का मत है कि विचारों से भाषा जन्मी ।

यह भाषा क्या है ? जिन ध्वनियों से कोई बात दूसरों पर प्रकट हो जाय उन्हें सर्वथा भाषा के रूप में हम यहाँ स्वीकार नहीं कर रहे हैं। एक पक्षी की आवाज सुनकर जब दूसरे पक्षी संकट का आभास पा जाते हैं तो वहाँ भी ध्वनियों से दूसरों

पर 'कुछ' व्यक्त कर देने की क्रिया होती है। इसे यहाँ हम भाषा नहीं मानेंगे। हम भाषा को उस रूप में स्वीकार कर रहे है जिसे मनुष्य की विशेष सम्पत्ति माना जाता है और जिसके माध्यम से मनुष्य गहरी से गहरी, उलझी से उलझी बातें बहुत-कुछ पूर्णता की सीमा तक प्रकट कर सकता है। यही भाषा, जब हम विचार करते है या कुछ सोचते हे तो हमारे साथ रहती है। ऐसा क्यों होता है ?

भाषा के दो पक्ष है, एक भौतिक और दूसरा मानसिक। जब हम 'कमल' शब्द का उच्चारण करते हे तो हमारा तात्पर्य एक पुष्प-विशेष से होता है। किन्तु 'कमल' शब्द का उच्चारण ही वह पुष्प नहीं है और न इस शब्द का कोई आन्तरिक सम्बन्ध उस पुष्प से है। किन्तु ये दोनों वस्तुएँ (यह शब्द और अभीष्ट पुष्प) हमारे लिए एक हो गयी हे। हमने उक्त पुष्प के द्योतन के लिए एक शब्द निश्चित कर दिया जो समाज मे प्रचलित हो गया। वैसे इन दोनों वस्तुओं की सत्ता अलग-अलग है। संबंध निश्चित कर दिये जाने पर उक्त पुष्प को उसी रूप में नही देखते, 'कमल' के रूप में देखते है। 'कमल' शब्द के उच्चरित होते ही हमारे सम्मुख उक्त पुष्प की प्रतिमा उपस्थित हो जाती है। यहाँ हम कमल शब्द को 'सूचक' और कमल या कमल की प्रतिमा को 'सूच्य' कह सकते है। इन दोनों प्रतिमाओं (शब्द-प्रतिमा और अर्थ-प्रतिमा) का संबंध निरन्तर अभ्यास से इतना दृढ़ हो जाता है कि उक्त पुष्प हमारे लिए अपनी मौलिक और नैसर्गिक अवस्था में नहीं रहता, वह 'कमल' हो जाता है।

इन दोनों प्रतिमाओं में से एक प्रतिमा भाषा-पक्ष की ओर है और दूसरी विचार-पक्ष की। इन्हीं का विकसित रूप आज यह प्रस्तुत है कि भाषा और विचार अलग-अलग नहीं रह गये, एक वस्तु के दो पक्ष बन गये हैं।

किन्तु आरंभ में क्या स्थिति थी ? इन दोनों पक्षों में प्रधान कौन है ? भाषा से विचार उपजे या विचारों से भाषा बनी ?

प्रारंभिक अवस्था में निश्चय ही मनुष्य की दृष्टि पहले स्थूल वस्तुओं पर गयी होगी और उनका नामकरण हुआ होगा। ये स्थूल वस्तुएँ आज के अर्थ-पक्ष या 'सूच्य' की प्रतिमाओं की पूर्वज मानी जा सकती हैं और इस रूप में इन्हें विचार-पक्ष का प्रतिनिधि मानना चाहिए। किन्तु यहाँ इस प्रश्न को हम छोड़ देते हैं। स्थूल से मनुष्य सूक्ष्म की ओर बढ़ा होगा और जिन-जिन भावनाओं, कल्पनाओं या विचारों की अनुभूति उसे हुई होगी, उन्हें भाषा में कोई शब्द दे दिया गया होगा। यह बात अकल्पनीय है कि किसी शब्द का निर्माण कर लिया गया होगा और बाद में कोई भावना मिलने पर वह उसमें सन्निहित कर दी गयी होगी। हाँ, दो बातें यहाँ ध्यान में रखने की है। एक तो यह कि इस क्रिया में युगों लग गये हैं। आरंभ में भाषा का स्वरूप आज-जैसा नहीं था। आज की दृष्टि से तो उस समय की भाषा को 'भाषा' कहने में हमें संकोच हो सकता है। साथ ही, विचार भी आज की विकसित अवस्था में नही थे।

दूसरी बात यह है कि विचार से भाषा जन्मी इसका तात्पर्य यह न समझना चाहिए कि नये विचार के उपजने में भाषा से (जो मात्र-भाषा न थी, बल्कि भाषा और विचार का मिश्रण थी) कोई संकेत अथवा सहायता न मिली होगी। एक भावना या विचार से मिलती-जुलती दूसरी भावना या विचार के लिए पहले 'सूचक'-जैसा ही दूसरा शब्द बनाया गया होगा, अथवा किसी बह्वर्थक शब्द के विभिन्न उच्चारणों को उसके अर्थ-खंड एक-एक कर सौपे गये होंगे। सूच्य-सूचक का घनिष्ठ संबंध हो जाने पर वे एक हो गये होंगे और उनसे नये विचारों (तथा नयी भाषा) को प्रेरणा मिली होगी। विचार के इस प्रेरक तत्व में भाषा का अंग 'सूचक' भी सम्मिलित था, यह भाषा के लिए गौरव की बात है। किन्तु यह निश्चित है कि विचार की प्रमुखता भाषा से कहीं अधिक है। आज भी गहन चिन्तन के क्षणों में अथवा भावाभिभूत (किन्तु अभिव्यक्ति के लिए उत्सुक) होने पर (जब हम संवेगों से हतचेतन नहीं हो जाते) हमें लगता है कि भाषा हमारा साथ नहीं दे पा रही है। हमारे अभ्यन्तर को पूर्णतः व्यक्त कर पाने में भाषा कुछ-न-कुछ हल्की और छिछली पड़ती है, इसका अनुभव हम कर सकते हैं। इस बात को सदैव 'भाषा के प्रति अज्ञान' कह कर नहीं टाला जा सकता।

हम भाषा के बिना विचार नहीं कर सकते, इसका कारण यही है कि हमारे दिन-रात के अभ्यास के कारण सूच्य-सूचक अभिन्न हो गये हैं, फलतः सूच्य का पीछा सूचक नहीं छोड़ता। इसी बात का दूसरा पक्ष लेते हुए कह सकते हैं कि जब हम कोई बात कहते हैं तो उसका अर्थ-पक्ष भी हमारे मस्तिष्क में रहता है, अर्थात् सूच्य सूचक का पीछा नहीं छोड़ता। दूसरे शब्दों में शब्द-प्रतिमा प्रस्तुत करते समय उसकी अर्थ-प्रतिमा हमारे सम्मुख उभर आती है।

यह बात कभी-कभी असत्य लगती है। हम बहुत-सी बातें ऐसी कहते है जिनके साथ, हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि, हमारी विचार-शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ रही है, या अर्थ-पक्ष नहीं उभर रहा है। 'तुम उत्तीर्ण हो गये! यह वाक्य कहते समय उत्तीर्ण होने की भावात्मक विचार-प्रतिमा हमारे सम्मुख नहीं होती, उसमें या तो मात्र-सूचना रहती है या हर्षवेग तथा सूचना। किन्तु यदि हम गहराई से देखें तो यहाँ भी विचार का धुँधला-सा आभास मिल जाएगा। इस धुँधलेपन का एक कारण है आवेग और दूसरा अभ्यास। निरन्तर कोई बात कहते-कहते एक समय ऐसा आ जाता है, जब भाषा का प्रयोग होने पर भी उसके विचार-पक्ष या अर्थ-प्रतिमा के लिए हमें प्रयास नहीं करना पड़ता, वह आवश्यकता भर के लिए स्वयं उभर आता है और इस आयास-रहित उभार को कभी-कभी हम बिना गहराई से देखे नहीं जान पाते।

इस प्रसंग में कुछ उदाहरण ऐसे दिये जाते है जहाँ कोई व्यक्ति सोचता कुछ और रहता है किन्तु बोलता कुछ और है। इसका साधन भी अभ्यास है। इस अभ्यास

के द्वारा वह अपने चिन्तन तथा भाषण के दो विभाग कर लेता है। जो कुछ वह सोच रहा है उसके साथ मूक भाषा रहती है। दूसरे विभाग मे, जो कुछ वह बोल रहा है उसके साथ मूक चिन्तन रहता है।

किन्तु ऐसे क्षणो मे मनुष्य की चिन्तन-शक्ति तथा भाषण-पद्धति विभक्त हो जाने के कारण उतनी स्वाभाविक, समर्थ और समृद्ध नही रहती, इसका अनुभव हम प्राय. कर सकते है। ऐसे मे हम जो सोच रहे है वह प्रायः सोचना नही होता, किसी वस्तु पर हल्का-सा ध्यान लगाये रहना होता है। यदि चिन्तन को गतिशील बनाने की चेष्टा करते है तो भाषा अव्यवस्थित, अशुद्ध और निरर्थक हो जाती है। यदि कोई भाषण हमे रटा हुआ हो तो भी उसे हम सर्वथा शुद्ध और अपनी स्वाभाविक गति से नही पढ सकते, यदि हमारी बुद्धि सचमुच कहीं और अटकी हुई है। दोनो क्रियाओ को समुचित रूप से सफल बनाने की चेष्टा करने पर हमारी बुद्धि और हमारा भाषण : दोनो झटके खाते हैं। अभ्यास की यह असफलता इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि सूच्य भी सूचक का साथ नही छोडता और समग्र रूप मे विचार तथा भाषा आज अभिन्न है।



३. परिवार में भाषा-विकास

भाषा का विकास निरन्तर होता रहता है। यहाँ विकास का अर्थ उन्नति नहीं, परिवर्तन है। परिवर्तित भाषा केवल परिवर्तित होती है, उन्नत या अवनत (अपभ्रष्ट, अपभ्रंश) नहीं। प्रत्येक भाषा प्रत्येक कालखण्ड में अपने समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इसलिए प्रत्येक भाषा-रूप अन्य किसी भी भाषा-रूप के समान ही समर्थ और पूर्ण होता है। उन्नति या अवनति की कल्पना इसी कारण अवैज्ञानिक मानी जाती है।

भाषा का यह विकास या परिवर्तन उसकी विभिन्न इकाइयों के स्तर पर होता है—ध्वनि-स्तर पर, शब्द-स्तर पर, वाक्य-स्तर पर और अर्थ-स्तर पर। काल-भेद से इन चारों इकाइयों में कुछ-न-कुछ अन्तर आ जाता है। किन्तु इस अन्तर का रूप सर्वत्र समान नहीं होता, देश-भेद से भिन्न-भिन्न हो जाता है। एक भाषा में हो रहे परिवर्तन दूसरी भाषा में हो रहे परिवर्तनों से भिन्न होते हैं—यह तो प्रकट ही है। किन्तु एक भाषा-भाषी समुदाय के भीतर भी परिवर्तन का प्रभाव सर्वदा और सर्वत्र एक-जैसा नहीं होता। सारे समुदाय के भीतर लघुतर इकाइयाँ होती हैं—पहले जिलों-जैसी बड़ी इकाइयाँ, फिर उनसे छोटी परगनों-जैसी, फिर गाँवों-जैसी। अन्त में परिवार और सबके बाद व्यक्ति का नम्बर आता है। इन सारी इकाइयों का ठीक-ठीक सीमा-निर्धारण सम्भव नहीं होता। जिलों और परगनों का सीमा-निर्धारण सहज है, भाषा के विकास की मात्रा के अनुरूप स्थान की विविध इकाइयों का सीमा-निर्धारण सहज नहीं है। हम केवल इतनी कल्पना सरलतापूर्वक कर सकते हैं कि स्थानगत इकाइयाँ भी विविध हैं जो एक-दूसरे से छोटी या बड़ी होती गई हैं—यहाँ तक कि एक छोर पर सम्पूर्ण भाषा-भाषी समुदाय आ जाता है और दूसरे छोर पर व्यक्ति। भाषा-भाषी समुदाय के रूप में एक ऐसे वृत्त की कल्पना करना उपयुक्त होगा जिसके भीतर अनेक वृत्त होते चले गये हैं और अन्त में केन्द्रविन्दु मिलता है—व्यक्ति।

किन्तु इस वृत्त की कल्पना की भी अपनी सीमाएँ हैं। भाषा की विविध इकाइयों के वृत्तांकन समान नहीं होते। यही नहीं, प्रत्येक इकाई के प्रत्येक सदस्य के अपने-अपने सीमांकन होते हैं। इस प्रकार इन वृत्तों की रेखाएँ एक-दूसरे को उतने ही स्थानों पर काटती या परस्पर भिन्न होती हैं, जितनी सारी भाषा में विकसित सदस्यों की संख्या होती है।

कठिनाई यहीं तक सीमित नहीं है। इस वृत्त की एक दूसरी दिशा भी है,

जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और वह है समय की। भाषा-भाषी समुदाय (देश) के बड़े वृत्त के ऊपर उस भाषा के सम्पूर्ण जीवन-काल (काल) का बड़ा वृत्त खड़ा होता है। इस वृत्त के भीतर भी क्रमशः लघुतर होते हुए वृत्त-पर-वृत्त बनते जाते हैं और अन्त में केन्द्रविन्दु मिलता है—क्षण। किन्तु यह लघुतम इकाई कोई एक निश्चित विन्दु नहीं है, काल-वृत्त में वह सर्वत्र व्याप्त है; उसी प्रकार, जैसे भाषा भाषी समुदाय में कोई एक व्यक्ति केन्द्र नहीं है, सारे व्यक्ति अलग-अलग एक केन्द्र-हैं। उलझन यह है कि देश-भेद के वृत्त काल-भेद के वृत्तों के अनुरूप नहीं होते, परस्पर काटते हुए और एक-दूसरे का सीमोल्लंघन करते चलते हैं।

भाषा के विकास के उलझावों का उक्त उलझनभरा चित्र अब वास्तविकता के अनुरूप है। देश-भेद के महत्तम वृत्त के उदाहरण सब पर प्रकट हैं—अँगरेजी अलग है, फ्रेंच अलग है और रूसी अलग है। काल-भेद के महत्तम वृत्त भी सर्वविदित हैं—वैदिक, संस्कृत, प्राकृतें, अपभ्रंशे और फिर हिन्दी आदि। इन दोनों दिशाओं का केन्द्र-विन्दु लें। देश-भेद में व्यक्ति पर पहुँचें तो थोड़ी सावधानी बरतनी होगी। प्रत्येक व्यक्ति की भाषा स्वतन्त्र है। एक उदाहरण लूँगा। यदि आप हिन्दी भाषा-भाषी हैं तो किसी हिन्दी पुस्तक के पाँच-सात पृष्ठ सावधानी से पढ़ जाइए और देखिए कितने शब्द आपको मिलते है जिन्हें आप भली-भाँति जानते हैं किन्तु जिनका प्रयोग आपने जीवन में कभी नहीं किया। अथवा किसी पड़ोसी की सारी बातें सावधानी के साथ दो-तीन दिन सुनिए और देखिए कि ऐसे कितने शब्द आपको मिलते है। यही बात किसी भी भाषा पर लागू की जा सकती है। शेक्सपियर और मिल्टन के शब्दों का लेखा-जोखा व्यक्तियों के शब्दों का लेखा-जोखा है। कालभेद के केन्द्र-विन्दु क्षण के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों का यह मत उल्लेखनीय है कि कोई व्यक्ति किसी भी ध्वनि का उच्चारण ज्यों-का-त्यों दूसरी बार नही करता। कम-से-कम आवृत्ति की सम्भावना उतनी ही अल्प है जितनी आकाश में नक्षत्रों के परस्पर टकरा जाने की। और यह कल्पना तो हम-आप कर ही सकते हैं कि जो भाषा कुछ सौ वर्ष बाद बिलकुल बदली नज़र आती है किन्तु जिसका बदलना किसी भी क्षण हम नहीं जान पाये हैं, वस्तुतः क्षण-क्षण बदलती रही है।

लेकिन ये सारी बातें चरम विन्दुओं की है। इस सारी चर्चा से भाषा-विकास का जो रूप हमारे सामने खिचता है, वह अत्यन्त जटिल और शुष्क प्रतीत होता है। सैद्धांतिक रूप से और वैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से ऐसा है भी; किन्तु व्यावहारिक रूप में सामान्यतः वह अत्यंत मधुर और मनोरंजक है। यह अवश्य है कि रस-प्राप्ति और मधुरता के लिए जटिलता में क्रमशः वैसे-वैसे उतरना चाहिए जैसे-जैसे भाषा-विश्लेषण की शक्ति आती जाय और उसमें आनन्द मिलता जाय।

इस दृष्टि से रोचकता की सहज उपलब्धि हो सकती है परिवार के भाषा-विकास में। अपने पिता, चाचा, भाई, भतीजे या पुत्र-पुत्रियों की भाषा ध्यान से सुनते

रहिए और मन-ही-मन अपनी भाषा से तुलना कीजिए। देखिए क्या आपके माता-पिता कुछ ध्वनियाँ ऐसी ठसक से बोलते हैं जो आपकी ध्वनियों में नहीं मिलती। क्या वे 'सोडा' को 'सोड़ा' कहते हैं ! क्या 'टाइम' उनके लिये 'टैम' है ! क्या वे कुछ ऐसे शब्दों का व्यवहार यदा-कदा कर जाते हैं जिनका अर्थ आप नहीं जानते अथवा जानते हैं तो स्वयं उनका व्यवहार नहीं करते ! क्या उनके लिए कुछ शब्दों का अर्थ आपसे थोड़ा भिन्न है ! क्या उनकी कुछ वाक्य-रचनाएँ आपसे भिन्न हैं ! देखिए क्या आपके बच्चे कुछ परिचित ध्वनियाँ कुछ ऐसे बोल रहे हैं कि उनका ठीक-ठीक अनुकरण आप नहीं कर सकते ! क्या वे कुछ शब्द विचित्र ढंग से बोलते है ! क्या वे कुछ शब्द पास-पड़ोस से माँग लाये हैं ! क्या उन्होंने कुछ ऐसी वाक्य-रचनाएँ आपको सौंपी हैं जिनमें आपको वही मजा आता है जो उनके अनगढ़ खेल-खिलौनों में ! यह सही है कि इस प्रकार के बहुत से परिवर्तन यथावत् सुरक्षित नहीं रहते, समय-क्रम से बदल जाते हैं; किन्तु विकास के बीज उनमें बने रह जाते हैं।

आप अपने चाचाजी से पूछते हैं कि क्या आये हुए अतिथि चले गये और आपके चाचाजी कहते हैं—'हौ !' आप उत्तरप्रदेश के निवासी हैं और अचम्भा करते हैं कि यह 'हौ' क्या है। प्रसंग से और ध्वनि-साम्य से आप जान जाते है कि यह 'हौ' आपके 'हाँ' का सहोदर है; लेकिन आपका अचरज अब भी नहीं जाता। अचरज न कीजिए ! आपके चाचाजी बीस साल मध्यप्रदेश में रहकर आये हैं न ! यह 'हौ' उनकी वहीं की कमाई है। आपकी पत्नी पूर्वी उत्तरप्रदेश की हैं और आप पश्चिम के हैं। अब अपने दाम्पत्य-जीवन का दृष्टि-भेद निरखिए। यदि आप 'कै़हते' हैं तो वह 'कॅहती' हैं, जिस मकान में आप 'रै़हते' हैं, उसमें वह 'रॅहती' हैं, जो वस्तु आपको 'बै़हती' मालूम पड़ती है वह उन्हें 'बॅहती' नजर आती है और इस भेद को इधर आप चुपचाप 'सै़हते' रहते हैं, उधर वह चुपचाप 'सॅहती' रहती हैं। लेकिन अपनी भाभी के साथ आप इतने सहनशील नहीं हैं। वह बेचारी पाँच-सात वर्ष पूर्व ही आपके घर आई हैं। उन्होंने आपके घर को अपना घर बनाया है तो आपकी भाषा को अपनी भाषा भी बनाया है। लेकिन बचपन के संस्कार हैं, कभी-कभी वह अब भी 'आम' को 'टपका' कह जाती हैं, 'गलियारा' उन्हें 'बटहा' हो जाता है और 'सीढ़ी' 'नसेनी' हो जाती है। फिर तो आप उन्हें चिढ़ाने से चूकते नहीं। आप पूछते हैं—'भाभी को आम दिये जायँ कि टपका ?' आप कहते हैं—'भाभी गलियारे में क्यों चलेंगी, उनके लिए बटहा जो बना हुआ है ?' कोई प्रसंग न होने पर भी आप दिन में पच्चीस बार 'नसेनी' शब्द का इस प्रकार प्रयोग करते हैं मानो भाभी को चिढ़ाने के लिए नहीं बल्कि अपने ही शब्द की भाँति स्वाभाविक रूप से उसका प्रयोग कर रहे हों—'अब हमारी नसेनी पुरानी हो गई !', 'दद्दा के यहाँ की नसेनी छोटी है।' 'यह नसेनी यहीं कोने में खड़ी रहती है।'

मैं घर गया तो छोटे भाई के मुँह से एक शब्द सुना—'भसकउवा फरा' ! मैं

चौंका, पूछा—यह क्या है ? उन्होंने जो बताया वह मेरा 'भरउवा फरा' था। सोचा—पूछूँ—"यह 'भसकउवा फरा' कहाँ से उठा लाये ? हमारे घर में तो 'भरउवा फरा' था, वही जिसमें दाल 'भरी' जाती है।" फिर सोचा कि शायद तुरन्त ही जवाब मिल जाय—"वाह भाई साहब ! आप इसको बेगाना समझते हैं ! अरे, यह वही 'भसकउवा फरा' है जो पकाते समय 'भसक' जाता है, खाते है तो 'भसकता' है।" निदान चुप रहा।

एक दिन भतीजे महोदय शोर मचा रहे थे—'मेरा बोरका कहाँ है ?' उनको स्कूल जाने की देर हो रही थी। मैं समझ गया इनका तात्पर्य मिट्टी के उस छोटे पात्र से है जिसमें खरिया मिट्टी का घोल भरा रहता है और जिसमें किलक या सेंठे की कलम डुबाकर लकड़ी की पट्टी पर लिखा जाता है। मैंने भी बचपन मे इसी प्रकार पढ़ा-लिखा है मगर तब मेरे लिए यह पात्र 'बुदिक्का' था। मैने 'बुदिक्का' से पढ़ा और मेरे भतीजे साहब 'बोरका' की तलाश में है। मन में आया, कह दूँ—'तुम्हारा बोरका मैंने ले लिया है; लेकिन वह मिट्टी का नहीं, तुम्हारी ध्वनियो का बना है।' मगर मेरे कहने का मतलब वह क्या समझते, हाँ आकर थोड़ी देर मुझे परेशान जरूर करते। मैं चुप ही रहा।

४. उच्चरित भाषा की विचित्रताएँ

हिन्दी भाषा को अपने लिखित रूप के लिए देवनागरी-जैसी वैज्ञानिक लिपि प्राप्त है, इस बात को लेकर विद्वानों में प्रायः चर्चा की जाती है। यह भी कहा जाता है कि हिन्दी में हम वही लिखते हैं जो बोलते हैं। किन्तु यह बात पूरी तरह सत्य नहीं है, इसके कई उदाहरण हमें मिलते हैं। इस्बार्, राम्दयाल् और हर्दम् को हम इस बार, रामदयाल और हरदम लिखते हैं। इन शब्दों के प्रचलित वर्ण-विन्यास की जगह यदि हम इनका उच्चरित रूप ही लिखें तो बड़ा अजीब-अजीब दिखेगा। किन्तु जिन शब्दों का लिखित रूप इतना स्थिर नहीं है, उनके वर्णविन्यास में कई विभेद मिलते हैं। उदाहरणार्थ—बिल्कुल-बिलकुल, गर्दन-गरदन, बर्तन-बरतन। अँगरेज को तो लोग पाँच तरह से लिखते हैं—अंग्रेज, अँग्रेज, अंगरेज, अँगरेज, अङ्गरेज।

वर्णविन्यास-सम्बन्धी इन बातों का पता प्रायः सभी को है। लेकिन उच्चारण का एक भेद भाषिकी में रुचि रखने वाले कुछ ही लोगों ने लक्षित किया होगा; और वह है कुछ स्थितियों में 'ह' के पहलेवाले ह्रस्व 'अ' के स्थान पर ह्रस्व 'ऐ' की ध्वनि। उदा०—कॅहते हैं, रॅहते थे। ये रूप खड़ी बोली के विद्वानों में भी प्रचलित हैं। मगर यह बात सर्वत्र नहीं लागू होती। गोरखपुर, देवरिया और बलिया आदि पूर्वी जिलों के व्यक्तियों के उच्चारण में इस विशेषता का अभाव पाया जाता है। उनके वाक्य होंगे—मैं आपसे कॅह रहा था; और—मुझे मॅहसूस होता है; जब कि मेरे उच्चारण में इनका रूप इस प्रकार होगा—मैं आपसे कॅह रहा था; और—मुझे मॅहसूस होता है। हिन्दी के इन भेदों के नियम दिये जा सकते हैं और इस प्रकार उसकी वर्तनी पूर्णतः स्वनिक न हो, स्वानिमिक अवश्य ही है।

एक ही भाषा में ऐसे अन्तर स्थानभेद, वर्गभेद अथवा प्रसंगभेद के कारण मिलते हैं। हिन्दी का एक वाक्य लें—कम-से-कम इतना तो कर ही दो! इसका 'कम-से-कम' कभी-कभी 'कम्से़ कम' हो जाता है यानी दीर्घ 'ए' ह्रस्व हो जाता है; जैसे—कम्से़ कम इतना तो कर ही दो! और कभी-कभी तो 'ए' गायब ही हो जाता है। जैसे—कमस्कम इतना तो कर ही दो! जल्दी बोलने में कर ही का 'ह' गायब हो जाता है और 'कर ही दो' के स्थान पर 'करी दो' सुनाई देता है। अँगरेजी में भी एक शब्द के कई उच्चरित रूप मिलते हैं। 'रोड' के लिये रोउड्, रउड और रे़उड तथा 'हाउस' के लिये हाउस, हैउस, हे़उस और हउस उच्चारणों का प्रयोग लक्षित किया गया है।

उच्चारणों की इन प्रवृत्तियों में सुविधा का बड़ा महत्वपूर्ण योग है । हिन्दी में तो इस सुविधा का यह परिणाम हुआ है कि कुछ बोलियों में आरम्भिक संयुक्त व्यंजन का उच्चारण ही उस रूप में नहीं होता; स्टेशन को इस्टेशन, प्रसाद को परसाद और स्वाद को सवाद कर दिया जाता है । लेकिन हममें से बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि दुनिया में ऐसी भाषाएँ भी हैं जिनमें आठ-दस व्यंजन एक साथ आ जाते हैं । जिन लोगों के लिए कुछ स्थितियों में दो व्यंजनों का एक साथ उच्चारण भी पहाड़ हो जाता है, उनके लिए ऐसे शब्द कितने कठिन होंगे ! एक शब्द है—/c'xstxw/ भला इसका उच्चारण बिना स्वर के कीजिए ! इसी प्रकार बेलाकूला भाषा का एक उदाहरण है—/sk'lxlxc/ ।

खैर, इन बातों को तो यहाँ छोड़ दें । जो भाषा हम बोल लेते हैं और बोलते रहते हैं, उसकी विचित्रताओं पर भी हम प्राय: ध्यान नहीं देते । इस उच्चरित भाषा की ऐसी-ऐसी विचित्रताएँ होती हैं जिन्हें लिखने की ओर हमारा कभी ध्यान ही नहीं जाता ।

उच्चरित भाषा के संबंध में एक बड़ी विचित्र और मजेदार बात यह है कि यदि कोई एक ही व्यक्ति किसी शब्द का उच्चारण कई बार करे तो वे सारे उच्चारण एक-दूसरे से भिन्न होंगे । यानी किसी शब्द या ध्वनि को एक बार हम जिस रूप में बोलते हैं, दूसरी बार हम उसे ठीक उसी प्रकार नहीं बोल सकते ।

क्या लिखने में भी ऐसे अन्तर संभव हैं ? लेकिन इन अन्तरों पर भी हम यहाँ ध्यान नहीं देंगे क्योंकि इन्हें तो यंत्रों की सहायता के बिना अच्छे-अच्छे स्वनज्ञ भी नहीं सुन पाते । यहाँ हम ऐसे अन्तरों की बात करेंगे जिन्हें हम सुनते हैं और समझते हैं । हिन्दी का एक वाक्य है—कब जाओगे ? इसे लिखकर आपके सामने रख दिया जाय तो आप इसे पढ़ लेंगे लेकिन आपको यह पता नहीं चल सकेगा कि यह किस प्रकार कहा गया था । इसके विपरीत यदि लिखें नहीं, कहें तो अनेक प्रकार से कह सकते हैं । निम्नलिखित उदाहरणों में ˈ चिह्न पर विशेष बल देकर पढ़िए; जैसे:—
कब जाओगे ? ˈकब जाओगे ? कब ˈजाओगे ? ˈकब ˈजाओगे ?

और गाकर तो इसके कई राग निकाले जा सकते हैं । यदि इसे पद्य की एक पंक्ति बनाने के लिए दुहरा कर कई बार पढ़ा जाय तो लिखने में हम इस बात का कोई संकेत नहीं कर पाएँगे कि जाओगे को हर बार किस प्रकार अलग ढंग से पढ़ा गया । लिखने में तो हमें 'जाओगे' को हर बार उसी एक ढंग से लिखना पड़ेगा । क्योंजी-जैसे दो छोटे-छोटे शब्द कहने से हमारा तात्पर्य पूरा हो सकता है । इसे हम किस ढंग से कहते हैं, इसी बात से यह पता चल जाएगा कि हम किसी को डाँट रहे हैं, दुलार कर रहे हैं, या किसी की चोरी पकड़ जाने पर उसे बना रहे हैं क्यों···जी·· क्योंजी ! लिखने में ये सारी बातें नहीं आ पातीं ।

और यदि हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि ये वाक्य एक ही ढंग से कहे गये तो भी हमें कई बातों का पता चल जाता है। यदि बोलनेवाला व्यक्ति हमारा परिचित है तो हम उसकी आवाज से ही उसे पहचान लेंगे। यदि वह परिचित न हुआ तो भी हमें प्राय: इस बात का पता लग जाता है कि वह स्त्री है या पुरुष और उसकी आयु लगभग कितनी है। हस्तलेख देखकर भी हमें अपने परिचित व्यक्ति का पता चल जाता है। दो भाइयों की आवाज में प्राय: इस प्रकार की समानता मिल जाती है कि उनमें भेद करना कठिन हो जाता है। लिखित भाषा के बारे में यह बात इतने अंशों में सही नहीं है।

फिर भी यह न समझना चाहिए कि इन सब बातों का संकेत लिखित भाषा में बिलकुल ही संभव नही है। स्वनज्ञों ने अपने उद्देश्य के लिए स्वनलिपियाँ बनाई हैं जिनमें सुर, मात्रा और सधि आदि के चिह्नों से कई बातों का संकेत करने की चेष्टा की जाती है। विरामचिह्न भी कुछ बातों का सकेत करते है। स्वनलिपियों में यह प्रयत्न भी किया जाता है कि संसार की सभी भाषाओं मे जितनी ध्वनियाँ मिलती हैं, उन सबके लिए चिह्न रक्खे जायँ। कुछ ऐसी ध्वनियाँ, जिन्हें हम बोल लेते हैं लेकिन लिख नही पाते, स्वनलिपि में लिखी जा सकती हैं। फिर भी तमाम ध्वनियाँ ऐसी हैं जिन्हें लिख पाना इतना सहज नही है। उदाहरण के लिए वे तरह-तरह की सीटी की आवाजे ली जा सकती हैं जिन्हें लोग अपने मुँह से ही पैदा कर देते हैं।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि लिखित भाषा का सामर्थ्य बहुत अल्प है। वास्तव मे लिखित भाषा उनमें से अधिकांश बातों को अंकित करने में समर्थ होती हैं, जिनका हमारे वक्तव्य और अर्थ से सीधा संबंध होता है। जो बातें गौण हैं और जिनका भाषा के उद्देश्य से सीधा संबंध नहीं है, लिखित भाषा उन्हें बिलकुल छोड़ देती है। इस प्रकार उच्चरित भाषा की विचित्रताओं को ठीक-ठीक लिख पाना संभव नहीं है; फिर भी अपने उद्देश्य की पूर्ति में लिखित भाषा का महत्व कम नहीं होता है।



५. भाषिकी 'विज्ञान' क्यों है ?

'विज्ञान' शब्द भारतवर्ष के लिए नया नहीं है। विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान—इस रूप में उसे सामान्य शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति भी समझ लेता है। विशेष अथवा युक्ति-सहित ज्ञान प्राप्त कर हम जिस 'विज्ञान' के अधिकारी बनते हैं, वह 'सामान्य ज्ञान' अथवा किसी विषय के स्वरूप के परिचय-मात्र से भिन्न है। इस रूप में गहराई से विवेचन कर सकने वाला दृष्टिकोण 'वैज्ञानिक' कहलाएगा।

तब भाषिकी को भाषा का विज्ञान कहने में हमें कोई संकोच न होना चाहिए यदि भाषा के सभी पहलुओं पर हम गहराई से सोच-विचार कर सकें। भारतवर्ष को यह गहरी दृष्टि प्राचीन काल में ही प्राप्त थी। इस प्रकार 'भाषिकी' भी भारतवर्ष के लिए चिर-परिचित विषय है। ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में अनेक स्थलों पर शब्दों की व्युत्पत्ति और स्वरों के उच्चारण आदि का विवेचन है। बाद में इसी विषय को लेकर निरुक्तों की परम्परा जन्मी, जिनमें यास्क का 'निरुक्त' इतना प्रसिद्ध हुआ कि आज हम 'निरुक्त' से यास्क-कृत 'निरुक्त' का ही अर्थ ग्रहण करते हैं। 'निर्वचन' और 'शब्दशास्त्र' भी प्राचीन शब्द हैं जो 'विशेष ज्ञान' वाले विज्ञान की कोटिमें आ सकते हैं। शिक्षा' शब्द भी पुराना है, जिसमें वर्ण, स्वर, मात्रा, बल आदि का विवेचन समाविष्ट है। उणादि-सूत्रों में भी शब्दों की व्युत्पत्ति पर विचार हुआ है। संस्कृत व्याकरणों का निर्माण इतना क्रमबद्ध और वैज्ञानिक हुआ था कि उन्हें हम 'सामान्य ज्ञान' के अन्तर्गत नहीं रख सकते।

डॉ० बाबूराम सक्सेना ने उपर्युक्त परिभाषा को ही इन शब्दों में व्यक्त किया है :—"विज्ञान विशिष्ट ज्ञान है जिसमें विप्रतिपत्ति और विकल्प की गुंजाइश नहीं और इसके तत्व सर्वत्र व्यापक हैं।"§

डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने विज्ञान को 'युक्तिसहित ज्ञान' माना है और ऊपर से दो बातें जोड़ दी हैं :—(१) "विज्ञान में हमारी दृष्टि उपयोग की ओर इतनी नहीं होती जितनी स्वाभाविक ज्ञान-पिपासा की तृप्ति की ओर हो जाती है।" (२) "सामान्य ज्ञान से विज्ञान को भिन्न करने वाला मुख्य गुण उसका तुलनात्मक होना है।"†

---

§सामान्य भाषाविज्ञान, पृष्ठ ३।

†भाषाविज्ञान, पृष्ठ २।

दर्शनकारों ने चेतन पदार्थ का मुख्य लक्षण 'ज्ञान' माना है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—नैसर्गिक (स्वतःसिद्ध) और बुद्धिग्राह्य। बुद्धिग्राह्य ज्ञान के प्रायः दो भेद किये जाते हैं—विज्ञान और कला। भाषिकी बुद्धिग्राह्य ज्ञान तो है; किन्तु वह विज्ञान क्यों है ? कला क्यों नहीं ?

कला में विकल्प होता है, विज्ञान में नहीं। विज्ञान में यदि कोई अपवाद आते हैं तो वे नये नियमों की ओर संकेत करते हैं। कला का लक्ष्य उपयोग और मनोरंजन होता है किन्तु विज्ञान का ज्ञानार्जन। ज्ञानार्जन में ही रस लेना और मनोरंजन पाना दूसरी बात है। विज्ञान भी आगे चलकर अपने आविष्कारों के माध्यम से उपयोगी हो सकता है, किन्तु ये आविष्कार कला की कोटि में आएँगे। विज्ञान केवल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है और सत्य का अन्वेषण करता है। भाषिकी की दिशा भी यही है। कला रचनात्मक होती है, विज्ञान नहीं। विज्ञान का लक्ष्य अपने उद्दिष्ट विषय का विश्लेषण-मात्र होता है। इस विश्लेषण के लिए ही यदि कोई रचना करनी पड़े तो दूसरी बात है। भाषिकी का दृष्टिकोण भी सत्यान्वेषक है, नई सृष्टि की रचना का नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से इतना निश्चित हुआ कि भाषिकी कला नहीं है, है वह विज्ञान ही। किन्तु विज्ञान क्या वह उसी अर्थ में है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है ?

'विज्ञान' शब्द हमारे यहाँ प्राचीन काल से प्रचलित है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अनेक विज्ञानों के विविध पहलुओं से हमारा परिचय था, यह भी सत्य है। किन्तु बीच में विज्ञान से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहा। विज्ञान की जो धारा हमारे यहाँ प्राचीन काल में प्रवाहित हुई, वह प्राचीन काल में ही समाप्त हो गई। इधर कुछ शताब्दियों में ससार ने विज्ञान में अद्भुत प्रगति की है। इस वैज्ञानिक प्रगति के प्रभाव से हमारा देश भी असम्पृक्त नहीं रहा। विज्ञान के क्षेत्र में हमने भी कुछ-न-कुछ सीखा है, किन्तु वह अन्य देशों से, अन्य देशों के अनुकरण पर। और आज जब हम 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारे मस्तिष्क में 'साइंस' शब्द का हिन्दी-अनुवाद रहता है। हम अपनी वर्त्तमान अगति को छिपाने के लिए ही अथवा अपना गम गलत करने के लिए अपनी भूतकालीन प्रगति की आड़ लेते हैं और पुरानी परिभाषाओं को खींच-तानकर चलाते हैं।

अस्तु 'विज्ञान' का अर्थ है साइंस। हमें देखना है कि इस 'विज्ञान' के लक्षण क्या हैं और भाषिकी उनकी कसौटी पर कैसी उतरती है।

१. विज्ञान पदार्थों में कार्य-कारण-सम्बन्ध की खोज करता है। यदि कोई कार्य होता है अथवा कोई घटना घटती है तो उसका कारण क्या है ? यदि हमारे सम्मुख कोई कार्य नहीं हो रहा है अथवा कोई घटना नहीं घट रही है, केवल उसका कारण प्रस्तुत है, तो

उसका परिणाम (कार्य) क्या होगा ? कार्य-कारण-परम्परा की ये दो दिशाएँ हैं । इन दोनों दिशाओं में विज्ञान उस स्थल तक पहुँचने का प्रयत्न करता है, जहाँ तक मानव-मस्तिष्क की गति शक्य हो । कोई वस्तु नीचे से ऊपर फेंकी गई, वह फिर लौट आई ; यह एक कार्य हुआ । इसका कारण क्या है ? अथवा इसे दूसरी दिशा से देखे । धरती की आकर्षण-शक्ति का कारण उपस्थित है ; यदि हम कोई वस्तु नीचे से ऊपर फेकें तो क्या कार्य होगा ?

इन दोनों बातों का विश्लेषण हमें एक निश्चित निष्कर्ष पर ले जाएगा । विश्लेषण की यह प्रवृत्ति विभिन्न बिखरी हुई वस्तुओं, असम्बद्ध दिखती हुई घटनाओं में एक संगति, सम्बन्ध और तारतम्य खोजेगी । परस्पर असम्बद्ध दिखनेवाले पदार्थ अथवा घटनाएँ जब परस्पर सम्बद्ध प्रतिपादित हो जाएँ तो उन सबको व्यवस्थित करना होगा । 'व्यवस्था' अथवा 'क्रमबद्धता' विज्ञान का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है ।

एक भाषा के पितृ, पाद, पुरु, प्लु शब्द दूसरी भाषा में फ़ादर, फ़ूट, फ़ुल, फ्लो हो जाते हैं (कार्य) । इन उदाहरणों को व्यवस्थित करके रखने से यह नियम (कारण) बना कि एक भाषा का प् दूसरी भाषा में फ़् बन गया है । इस उदाहरण में हम कार्य से कारण पर पहुँचे हैं । कारण से कार्य पर पहुँचने की प्रक्रिया को ही उलटने से मूल भारोपीय भाषा की पुनर्रचना संभव हुई है ।

२. विचार और चिन्तन ही विज्ञान के आधार नहीं हैं, विज्ञान में अन्वीक्षण और प्रयोग को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । इसका एक कारण यह भी है कि विज्ञान की क्रियाएँ दृष्टिगम्य होती हैं, कला और साहित्य की भाँति कल्पनागम्य नहीं । विज्ञान प्रयोगों के आधार पर सबके लिए एक ही परिणाम प्रस्तुत करता है, साहित्य की उपलब्धियाँ वैयक्तिक होती हैं ।

यस्पर्सन प्रभृति विद्वानों ने शिशु के विकास का ध्यानपूर्वक अन्वीक्षण किया है और भाषा के विकास को समझने की चेष्टा की है । भाषा के उद्गम को समझने के लिए नवजात शिशुओं पर आरम्भ से प्रयोग हुये हैं । स्वानिकी की अपनी प्रयोगशाला ही होती है, जिसमें विभिन्न प्रकार के यन्त्र होते हैं ।

३. विज्ञान व्यक्ति-निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ होता है । किसी विशेष व्यक्ति के लिए विज्ञान की सिद्धि कुछ और हो, अन्य के लिए और, ऐसा नहीं होता । जादूगर का जादू केवल उसी तक सीमित हो सकता है पर वैज्ञानिक सूत्र सबके लिए सत्य हैं ।

यहाँ भाषिकी का क्षेत्र हमें विज्ञान की अपेक्षा कुछ सीमित-सा दिख सकता है । विज्ञान के सत्य सर्वत्र सत्य हैं, पर भाषिकी में ध्वनि-परिवर्तन के नियम सभी भाषाओं पर लागू नहीं किये जा सकते । थोड़ी गहराई में जाकर विचार करें तो यह आपत्ति निराधार है । ध्वनि-परिवर्तन के नियम विभिन्न भाषाओं में पृथक्-पृथक् हो सकते हैं,

पर इन नियमो के नियम, दूसरे शब्दों में कहें तो 'ध्वनि-परिवर्तन के कारण' सर्वत्र एक है। एक स्थान पर प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख की प्रवृत्ति व्याप्त हो, अन्यत्र लोग उत्साह-पूर्वक कठिन-से-कठिन शब्दों के उच्चारण की ओर अग्रसर हो रहे हों—यह सम्भव नही है। भाषिकी अपेक्षाकृत नया विज्ञान है, इसलिए यह सम्भव और स्वाभाविक है कि उसकी उपलब्धियाँ अन्य विज्ञानों की तुलना में कम नियमित और सुसम्बद्ध हों।

किन्तु इस बात का भाषिकी की व्यक्ति-निरपेक्षता के हमारे मूल प्रश्न से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। हमारे अध्ययन का विषय 'भाषा' है। 'भाषा' का ही महत्व है, उसके किसी एक उपासक का नही। सभी लोग भाषा की उपासना कर सकते हैं।

४. विज्ञान संग्राहक होता है। उसकी उपलब्धियाँ कभी स्थिर नहीं हो पाती, उनमे निरन्तर विकास होता रहता है। प्राप्त ज्ञान-निधि कभी सम्पूर्ण नही कही जा सकती, उसमें योग होता रहता है। इस प्रक्रिया में पुरानी परम्पराओं का खण्डन भी होता है, पुरानी उपलब्धियों और सिद्धियों की प्रकट रूप में अवमानना भी हो सकती है, किन्तु अन्वीक्षण और प्रयोग का सूत्र सदैव धारण किये रहना पड़ता है।

भाषा के उद्गम के सम्बन्ध में अनेक वाद प्रस्तुत किये गये। आज उनमें से कुछ वादों को तिरस्कृत कर दिया गया है और अन्य का समन्वय करके समस्या को सुलझाने की चेष्टा की गई है। यद्यपि अधिकांश भाषिक भाषा के उद्गम की समस्या को छोड़ देना ही उचित समझते हैं,§ किन्तु जिन भाषिकों ने इस ओर से अपना ध्यान नहीं हटाया है, संभव है इस दिशा में वे कुछ नई उद्भावनाएँ करें और हमें अपनी वर्तमान मान्यताओं में संशोधन या परिवर्तन करना पड़े।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है। किसी 'सत्य' की प्रतिष्ठापना जब तक वैज्ञानिक रूप से असंदिग्ध नहीं सिद्ध हो जाती, हम उसे विज्ञान के अन्तर्गत नहीं रखते। ऐसा सत्य 'वाद' कहलाता है।



§पेरिस की भाषिकी-परिषद् की नियमावली के अनुसार भी इस प्रश्न पर विचार करना निषिद्ध है।

६. 'अँगरेज' शब्द के चार रूप

हमारे भूतपूर्व गौरांग महाप्रभुओ के लिए सामान्य व्यवहार मे प्रयुक्त होने वाला शब्द आजकल हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं मे चार रूपो मे दिखाई देता है :—

अंग्रेज, अँग्रेज, अंगरेज§, अँगरेज ।

किसी शब्द के वर्ण-विन्यास की यह अस्थिरता हिन्दी के लिए श्रेयस्कर नहीं है । अतः इस बात पर विचार करना चाहिए कि इन रूपो मे से किसका प्रयोग अधिक उचित है । इसके लिए पहले इन चारों रूपों का वार्णिक विभाजन करें :—

(१) अं—ग्रेज

(२) अँग्—रेज(ग्रेज)

(३) अंग—रेज

(४) अँग—रेज

इनमें पहले दो रूप स्वनात्मक है और इन रूपो के यथार्थ उच्चारण पर आधारित है जबकि अन्तिम रूप स्वानिमिक है और हिन्दी वर्त्तनी या वर्ण-विन्यास के नियमों का अनुसरण करता है ।

तीसरा रूप उन लोगो की देन है जो अनुनासिक के अर्थ मे भी अनुस्वार का प्रयोग करने लगे हैं† और इसे चौथे रूप का सरलीकरण (!) समझ कर ही ग्रहण करते है । इस नई परम्परा को प्रतिष्ठित करने का साहस जिन विद्वानों ने दिखाया है, यह रूप केवल उन्ही के लिए वैध है । मुझे यह साहस नही होता (मुझे 'हंस' और 'हँस' में अन्तर रखना है) और न इस प्रकार के साहस को मैं वांछनीय समझता हूँ । मुझे पता है कि मेरे-जैसे और भी बहुत-से लोग इस साहस से वंचित होगे, अतः इस तीसरे रूप को मैं छोड़े देता हूँ । जो लोग नई परम्परा प्रतिष्ठित करने और इस प्रकार सीमित क्षेत्र में युग-प्रवर्तन करने के उद्देश्य से नही, बल्कि अनुस्वार और अनुनासिक में भेद न कर पाने के कारण तीसरा रूप अपनाते हों,‡ उन्हें थोडा प्रयत्न करके यह भेद समझ लेना चाहिए और इस भ्रान्ति से बचना चाहिए । टाइपराइटर मे अनुनासिक का

---

§इसे 'अङ्ग' भी लिखते है । 'अङ्गरेज' को पृथक् रूप मानें तो पाँच रूप हो जाते हैं ।

†कुछ शब्दों में स्वर पर अनुस्वार का चिह्न अनुनासिक के अर्थ में लगाया जाता है (जैसे :—'में'); किन्तु 'अ' पर ऐसा नही होता ।

‡यह बात अनुभूत तथ्य है ।

प्रबन्ध नहीं है अतः वहाँ अनुस्वार का ही प्रयोग करना पड़ता है। टाइपराइटर की वर्त्तनी के संशोधन के लिए जिन्हें अपनी अकल्पनीय अतिव्यस्तता अथवा आलस्य के कारण समय नहीं मिलता, उनके लेखन में भी तीसरा रूप विद्यमान रहता है।§ कुछ हो, इस तीसरे रूप का अनुस्वार अनुस्वार नहीं है, अन्यथा स्वनिक दृष्टि से उक्त वार्णिक विभाजन में 'अं' और 'ग' को अलग करना पड़ता।

अब बचे तीन रूप—पहला, दूसरा और चौथा। प्रथम दो रूप स्वनिक है और यदि ऊपर का वार्णिक विभाजन मान लिया जाय तो दोनों ही रूप सही हैं। अब देखना यह है कि इनमें से हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल कौन है।

संयुक्त व्यंजन के पूर्व सानुनासिक स्वर का उदाहरण मुझे हिन्दी में नहीं मिला। इस प्रकार का शब्द केवल 'अँग्रेज' ही है। इसलिए जहाँ अनुनासिक और अनुस्वार की बात आती है, 'अंग्रेज' रूप के हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रसंग की यह मर्यादा छोड़ दें तो इस रूप का औचित्य 'अँ-ग्रेज' विभाजन से सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि संयुक्त व्यंजन के पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वर वाले वर्ण को द्विमात्रिक मानने के उदाहरण हिन्दी में हैं :—

प्र—ख्यात
वि—श्वास†

पहला रूप भी उक्त वार्णिक विभाजन की दृष्टि से सही है। इसमें अनुस्वार के प्रभाव से उसका वर्ण स्वयं ही द्विमात्रिक हो जाता है, परवर्त्ती वर्ण का आरम्भिक व्यंजन संयुक्त हो या न हो। किन्तु संयुक्त व्यंजन वाले उदाहरण भी मिलते हैं :—

सं—ग्रह
सं—क्रान्ति
अलं—कृत‡

अब रह गया चौथा रूप। पुराने हिन्दी साहित्यकारों ने इसी रूप को उचित समझा था क्योंकि हिन्दी की प्रकृति के अनुसार 'ग' का 'अ' स्वयं ही लुप्त हो जाएगा। जो लोग संयुक्त व्यंजन के पूर्व ह्रस्व स्वर वाले वर्ण को दीर्घ मानने के परम्परागत

---

§यदि यह रूप 'रंगरेज' के अनुकरण पर उपजा हो तो इसके अनौचित्य के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं।

†संस्कृत उच्चारण के अनुसार 'त' और 'स' पृथक् अक्षर होंगे किन्तु हिन्दी के अनुसार नहीं क्योंकि इनका उच्चारण हलन्त की भाँति होता है।

‡संस्कृत में 'ऋ' का उच्चारण स्वरवत् होता था; किन्तु हिन्दी में वह 'रि' है। अतः 'कृ' संस्कृत उच्चारण के अनुसार संयुक्त व्यंजन का उदाहरण नहीं प्रस्तुत करता, जबकि हिन्दी में 'क्रि' उच्चारण होने के कारण उसमें संयुक्त व्यंजन मिलता है।

नियम का अनुसरण करके दूसरे रूप को अपनाते हैं, उन्हें निश्चय ही चौथे रूप को स्वीकार करना चाहिए। एक ओर तो संस्कृत के इस नियम का आश्रय लेना कि संयुक्त व्यंजन के पूर्व का ह्रस्व वर्ण भी दीर्घ माना जाता है और दूसरी ओर हिन्दी स्वानिमी के इस नियम को भुला देना कि इस स्थिति के वर्ण में 'अ' का उच्चारण नही होता, वर्णविन्यास की खिचड़ी बना देना है। यदि दूसरे रूप के समर्थकों ने चौथे रूप का औचित्य न माना तो सम्भवत: अगले चरण में 'वनकाम', 'सरकार' और 'फटकार'—जैसे शब्द 'वन्काम', 'सर्कार' और 'फट्कार' हो जाएँगे।

इस प्रकार हमारे सामने दो रूप बचते है ('अंग्रेज' और 'अँगरेज'), जिन्हें हिन्दी की प्रकृति के अनुसार समान रूप से स्वीकरणीय माना जा सकता है। अत: इनमें से भी किसी एक ही रूप को चुनने के लिए हमें अपने वास्तविक उच्चारण से इन दोनों रूपों की ध्वन्यात्मकता की संगति पर विचार करना होगा।

'अंग्रेज' रूप को संस्कृत वैयाकरणों की परिपाटी का अनुसरण करने से 'अङ्ग्रेज' भी लिखा जा सकता है। इसमें 'ङ्' का उच्चारण 'अ' के बाद होता है। इसीलिए डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने 'ए फोनेटिक एण्ड फ़ोनोलॉजिकल स्टडी ऑव भोजपुरी' में अनुस्वार को 'नासिक्य ध्वनि-पश्च' कहा है। 'अँगरेज' में अनुनासिकता का प्रभाव केवल 'अ' पर है।

इस भाँति 'अंग्रेज' में नासिक्य तत्व प्रबल है और 'अँगरेज' में ग-तत्व। यद्यपि 'अंग्रेज' का अनुस्वार ध्वनि-पश्च होने के नाते 'अ' के बाद आता है; किन्तु जैसा कि स्पंदग्राही अध्ययन से सिद्ध हो चुका है, उसका प्रभाव 'अ' पर भी पड़ता है। इससे उच्चार में अनुनासिकता की मात्रा और बढ़ जाती है। मेरा अपना अनुभव यह बताता है कि उक्त शब्द के उच्चारण में नासिक्यता वस्तुत: इतनी अधिक मात्रा में नहीं मिलती। अपने ही सम्बद्ध भाषण में स्वयं तटस्थ होकर इस बात की परीक्षा की जा सकती है और दूसरों के स्वाभाविक उच्चारों में भी इस बात का समर्थन खोजा जा सकता है। 'अंग्रेज' रूप का वर्ण-विन्यास भी मेरी उक्त धारणा की पुष्टि करता है।

अतएव इन रूपों में 'अँगरेज' का प्रयोग ही संगत है।§

●

---

§जो शब्द अँगरेजी से सीधे अपरिवर्तित रूप में आए हैं, उन्हें लिखने में हिन्दी स्वानिमी के नियमों को न अपनाकर ध्वन्यात्मक आधार पर ही वर्ण-विन्यास करना क्षम्य और एक दृष्टि से उपयोगी माना जा सकता है। अत: 'English' के लिए बहु-प्रचलित हिन्दी रूप 'इंग्लिश' का प्रयोग उचित है। 'इँग्लिश', 'इँगलिश' या 'इंगलिश' का आग्रह यहाँ छोड़ा जा सकता है।